इक्ष्वाकुवंश-केसरी
काश्यपगोत्री
लिच्छवि-जाति-प्रदीप
नाथकुल-मुकुटमणि
प्रातःस्मरणीय

तीर्थंकर वर्द्धमान

विद्यानन्द मुनि

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, इन्दौर

वी. नि. संवत् २५००

बाबूलाल पाटोदी
मंत्री,
श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति
४८, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर-२ (मध्यप्रदेश)

षष्ठ पुष्प
अष्टम आवृत्ति
(संशोधित-परिवर्द्धित)

तीर्थंकर वर्द्धमान

विद्यानन्द मुनि

२५००वाँ वीर-निर्वाणोत्सव के निमित्त
अक्टूबर, १९७३

मूल्य : तीन रुपये
मुद्रक : नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

TIRTHANKAK WARDHAMAN
Vidyanand Muni
Cultural History 1973

प्रकाशकीय

परम पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने अपने मेरठ-वर्षायोग में जो अध्ययन-अनुसंधान किया और जो अभीक्ष्ण स्वाध्याय-सिद्धि की, उसी की एक अपूर्व परिणति है उनकी आज से बीसेक वर्ष पूर्व प्रकाशित कृति "वीर प्रभु" का यह आठवां उपस्कृत संस्करण। इसमें मुनिश्री ने भगवान् महावीर के जीवन पर खोजपूर्ण सामग्री तो दी ही है, साथ ही उन तथ्यों का भी संतुलित समायोजन किया है जो अब तक हुई गंभीर खोजों के फलागम हैं। यही कारण है कि इसमें प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, ज्योतिषिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रामाणिक विवरण भी सम्मिलित हुए हैं। वास्तव में मुनिश्री अविराम दौड़ती सदासद्यः उस नदी की भांति हैं जो हर घाट-बाट पर निर्मल है और जो किंचित् भी कृपण नहीं है; वे ठहरे हुए जल तो हैं नहीं कि एक बार जितना बटोर लिया उसे ही इतिश्री मानकर चलें; वे अनेकान्त की मंगल मूर्ति हैं और इसीलिए प्रत्येक दृष्टिकोण का सम्मान करते हैं और उसमें से प्रयोजनोपयोगी निर्दोष तथ्यों को अंगीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद से लभ्य चक्रवृद्धिक आनन्द की छटा मिलेगी। अनेकान्तात्मक सत्यान्वेषण की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि उससे वस्तु का मूल व्यक्तित्व तो अक्षत बना ही रहता है साथ ही चित्त पर एक वर्धमान ताज़गी और सुरभि बरसती रहती है। मुनिश्री प्रवचन-शैली में लिखते हैं, इसीलिए उनके प्रतिपादन सरल, सुगम, उदाहरणों से पुष्ट और सुग्राह्य हैं। पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि इसमें भगवान् महावीर के जीवन का असंदिग्ध वृत्तान्त तो है ही, साथ ही जैन सिद्धान्तों का एक सारपूर्ण व्यक्तित्व भी झलक उठा है।

वैशाली के सम्बन्ध में मुनिश्री ने जो विवरण दिये हैं, वे किसी भी गणतन्त्र के लिए गौरव का विषय हो सकते हैं। जब विश्व के अन्य देश राजनीति के शैशव से गुजर रहे थे, तब वैशाली अपने तारुण्य-शीर्ष पर थी। जैनों ने न केवल धर्म, संस्कृति और दर्शन के क्षेत्र में सर्वोच्चता उपलब्ध की थी वरन् उन्होंने पार्थिव समृद्धियों के भी उस तल को छू लिया था जहाँ पहुँचकर आदमी लौटने लगता है। इसका मतलब यह हुआ कि जैन राजन्यवर्ग ने पार्थिवता की उस सीमा को भी लांघना शुरू किया था जहां पहुंचकर वह स्वयं निस्सार और निरर्थक दीखने लगती है। महावीर का वैराग्य कोई लाचारी नहीं है और न ही वह पलायन है, वह सुनियोजित पद-निक्षेप है अध्यात्म की दिशा में। वह अनन्त ऐश्वर्य के बीच से आनेवाली मंगल ध्वनि है, जिसने आगे चलकर भारत के भाल का शृंगार किया है। महावीरकालीन भारत निपट अशान्त था और शान्ति की तलाश कर रहा था। इसके विपरीत भारतीय धरती पर कई जगह पशुओं की निरीह चीत्कारें और रक्तपात थे। इन निराशाओं

के मध्य महावीर शान्ति के एक सशक्त विश्वास की भांति आये, जिन्होंने आम आदमी को निष्कण्टक सांस लेने का अवसर दिया। उन्होंने सहअस्तित्व और धार्मिक सहिष्णुता के ऐसे आधार, जो कई सदियों पूर्व भारत में प्रौढ़ विकास कर चुके थे, किन्तु अब जिन्हें विस्मृत कर दिया गया था, पुनः स्थापित किये और उनकी सर्व-मंगला प्रवृत्ति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। एक महत्व की बात यह भी हुई कि भगवान् महावीर ने अपना कार्य लोकभाषा में किया, जहां किसी तरह का कोई व्यवधान नहीं था।

मुनिश्री की यह कृति पच्चीस सौवें महावीर-परिनिर्वाण की एक समुज्ज्वल भूमिका के रूप में प्रकाश में आ रही है। यह एक ऐसी पुस्तक है, जो कई-कई छोटी पुस्तकों का आधार बन सकती है, विशेषतः उन पुस्तकों का जो पाठ्यक्रमों में आती हैं और कई भ्रम और गलतफहमियों को जन्म देती हैं। श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर का यह परम सौभाग्य है कि उसे मुनिश्री की प्रस्तुत उल्लेख्य कृति के प्रकाशन का सुखद संयोग मिला है। जिस पारस-पुरुष में संपूर्ण भारतीय संत-परम्परा वातायन ढूंढ़ रही है, हमें विश्वास है उसकी यह बहुमूल्य कृति व्यापक रूप में समादृत होगी और लोक-जीवन को समुचित्त दिशा देने में सफलता प्राप्त करेगी।

समिति ने मुनिश्री की अन्य कई कृतियां प्रकाशित की हैं, जिनमें से "निर्मल आत्मा ही समयसार", "अहिंसा:विश्वधर्म", "आध्यात्मिक सूक्तियां", "समय का मूल्य" बहुख्यात और बहुपठित-चर्चित कृतियां हैं। यही कारण है कि इनमें से कई के द्वितीय संस्करण भी हुए हैं। इसके अतिरिक्त मुनिवर की मंगल प्रेरणा के फलस्वरूप समिति भगवान् महावीर के जीवन पर दो और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन कर रही है; ये हैं—मुनिश्री के प्रबुद्ध एवं व्यक्तिगत निर्देशन में पंडित पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित "तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर" तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, कवि एवं पत्रकार श्री वीरेन्द्रकुमार जैन द्वारा प्रणीत बृहद् उपन्यास "अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर"। हमें विश्वास है समिति आने वाले वर्ष में मुनिश्री के मंगल शुभाशीष लेकर जीवन को प्रकाश और पावनता देने वाला सत्साहित्य प्रकाशित करने में सफल होगी।

अन्त में हम पंडित श्री नाथूलालजी शास्त्री के प्रति भी समिति का आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी एक खोजपूर्ण प्राक्कथन लिखकर हमें अनुगृहीत किया है।

—बाबूलाल पाटोदी

दीपावली, १९७३ मन्त्री

प्राक्कथन

मुनि श्री विद्यानन्दजी द्वारा लिखित 'वीर-प्रभु' लघु पुस्तिका छह-सात संस्करणों में लगभग २० हजार संख्या में प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख आ चुकी है। भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें परिनिर्वाण-महोत्सव की योजनाओं के अन्तर्गत तीर्थंकर वर्द्धमान के जीवन और देशना को प्रस्तुत संस्करण के रूप में परिवर्तित और परिवर्धित कर विद्वान् एवं तपस्वी लेखक ने उसे बहुमूल्य कृति बना देने का सराहनीय प्रयत्न किया है। श्री वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन-समिति द्वारा पं. पद्मचन्द्रजी शास्त्री की भगवान् महावीर की एक अन्य जीवनी भी प्रकाशित हो रही है, उसमें मुनिश्री के अनेक सुझाव हैं, जिनका यत्र-तत्र साम्य दिखाई देता है।

इस रचना में मुनिश्री ने जीवन्त स्वामी प्रतिमा का, जो राजकुमार महावीर के संसार त्यागने के एक वर्ष पूर्व का चित्रण है, चित्र तथा तीर्थंकर वर्द्धमान की पंचकल्याणक तिथियों का वर्तमान ईस्वी सन्, तारीख तथा वारों में उल्लेख, जन्मस्थान, वैशाली की महिमा इत्यादि विशेषताओं का दिग्दर्शन करा कर इसका महत्व बढ़ा दिया है।

भगवान् महावीर के लोक मंगलकारी सिद्धांतों में अहिंसा, अनेकांत, स्याद्वाद अपरिग्रह, समतावाद और कर्मवाद आदि हैं, जिनका मूर्तिमान स्वरूप स्वयं लेखक अपने अलौकिक तपःपूत जीवन में ग्रहण किये हुए है और वर्तमान विषमता के विषाक्त वातावरण में संप्रदायातीत सर्वधर्म-समभाव और समन्वय की पुण्य-पीयूषधारा को जन-जीवन में प्रवाहित कर श्रमण-संस्कृति की महत्ता और विश्वधर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। मानव-जीवन में भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का समन्वय होना आवश्यक है। आध्यात्मिकता जीवन की बाह्य रूपरेखा के निर्माण के साथ जीवन को पशु-स्तर से उठा कर मानवीय धरातल पर ले जाती है। भारतीय संस्कृति में भौतिकता के भीतर ही आध्यात्मिकता की स्थिति मानी गई है।

भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धांत व्यापक सहिष्णुता है। दूसरों की जीवन-संबंधी समस्याओं और दृष्टिकोण के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की उदारता से इस देश में वैदिक और श्रमण साथ-साथ रह रहे हैं। सार्वभौमिक दृष्टि-बिन्दु की विशिष्टता से ही विचारधाराओं में विरोध की जगह संश्लेपण को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न रहा है।

'रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिल नाना पथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'[1] ।।

महिम्नस्तोत की सर्वधर्म समानत्व को करने में समर्थ यह उदारता वैदिक शास्त्रों में उपदिष्ट है । यं शैवा समुपासते' और 'यो विश्वं वेदवेद्यं' आदि वैदिक और भट्टाकलंक के उदार भावों से अनुप्राणित मंगल श्लोक प्रसिद्ध हैं ।

इसी प्रकार मनुस्मृति में लिखा है कि[2] ६८ तीर्थों की यात्रा का जो फल होता है वह एक आदिनाथ के स्मरण से प्राप्त हो जाता है ।

महाभारत में[3] जीवदया के संबंध में उल्लेख है कि एक ओर स्वर्णमेरु और समस्त पृथ्वी और दूसरी ओर एक प्राणी का जीवन; फिर भी जीवन का मूल्य उससे अधिक है ।

इतिहास में यह देखने को मिलता है कि युग-महापुरुषों के शिष्यों ने अपने गुरुजनों के प्रदर्शित मार्ग के प्रचार के नाम पर उन्मत्त होकर कलह और विद्वेष के बीज बोये, मजहब के नाम पर हिंसा और संघर्ष की जड़ जमाने की कोशिश की, पर क्षत्रिय शासक तीर्थंकरों आदि (जिनमें रामाकृष्ण आदि भी सम्मिलित हैं) ने मानव-हृदय को संस्कृत बनाना धर्म का उद्देश्य है यह उदघोषित करते हुए उसके नाम पर उत्पन्न किये गये दोषों को दूर कर स्वयं वीतरागता प्राप्त कर अहिंसा और अनेकांत रूप विश्व-कल्याणकारी मार्ग का उपदेश दिया । छान्दोग्य उपनिषद् ५-३ में गौतम गोत्रिय ऋषि क्षत्रिय राजा प्रवहण से आत्मविद्या के विषय में प्रश्न करते हैं और उन्हें उत्तर मिलता है कि "पूर्वकाल में तुम से पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी इसीसे संपूर्ण लोकों में इस विद्या के द्वारा क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा है ।" इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् ५-११ में केकयकुमार अश्वपति राजा द्वारा परम श्रोत्रिय ऋषियों को आत्म विद्या के उपदेश देने का उल्लेख मिलता है । भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा इत्यादि सिद्धांतों के प्रसार करने का श्रेय इन्द्रभूति गौतम, वायुभूति, अग्निभूति प्रभृति वेदवेदांग पारंगत ब्राह्मण-श्रेष्ठों को है, जो परम तपस्वी और ब्रह्मचारी थे और राजगृह से मुक्त हुए थे । महावीर-निर्वाण के पश्चात् भी आचार्य विद्यानंद आदि उद्भट विद्वान् स्याद्वाद-दर्शन के महान् प्रचार-प्रसार करने वाले हो चुके हैं । वर्तमान में वर्णी गणेशप्रसादजी भी ऐसे ही थे ।

---

१ जल के स्थान समुद्र समान विभिन्न मार्ग और रुचिवालों के लिए आत्मा की मुक्ति-प्राप्ति का उद्देश्य तो एक ही है।

२ अष्ट षष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलंभवेत् । श्री आदिनाथदेवस्य स्मरणेनापितद्भवेत् ।।

३ एकतः कांचनो मेरुः कृत्स्ना चैव वसुन्धरा । जीवस्य जीवितं चैव तत्तुल्यं कदास्यत् ।।

जनरल फरलांग, सुनीतिकुमार चटर्जी और न्यायमूर्ति रांगलेकर आदि विद्वानों के मतानुसार भारत में आर्यों के आने के पूर्व[1] जैनधर्म विद्यमान था। पश्चिमीय एवं उत्तरीय मध्य भारत का ऊपरी भाग ईस्वी सन् १५०० से लेकर ८०० वर्ष पूर्व पर्यन्त उन तूरानियों के अधीन था जिनको द्रविड़ कहते हैं। उस समय उत्तरभारत में एक प्राचीन, अत्यन्त संगठित धर्म प्रचलित था, जिसका दर्शन, आचार एवं तपश्चर्या सुव्यवस्थित थी, वह जैनधर्म था। आर्यो ने यहाँ के निवासियों को अनार्य कहा और[2] "दोनों यहाँ एक दूसरे के समीप रहने लगे। आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान और देवी-देवताओं को अनार्य लोगों ने स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे अनार्यों के देवता, धर्मानुष्ठान, दर्शन, तत्वज्ञान और भक्तिवाद आर्यों के मन पर अपनी छाप छोड़ने लगे। अनार्य राजा तथा पुरोहित आर्यभाषा (संस्कृत) ग्रहण करने के साथ ही साथ आर्यभाषी समाज में गृहीत होने लगे।" सर राधाकृष्णन् के अनुसार उपनिषदों का तत्वज्ञान भारत के आदिवासी द्रविड़ों आदि से लिखा गया था। उपनिषद् और जैन तत्वज्ञान में आत्मा, व्यवहार (अविद्या) और निश्चय (विद्या) आदि के बारे में बहुत कुछ साम्य मिलता है। डॉ. हर्मन जैकोबी के मत से भगवान ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक ऐतिहासिक पुरुष थे। भागवत में उन्हें अष्टम अवतार के रूप में माना गया है। यह सब वैदिक और श्रमण संस्कृति दोनों को भारतीय संस्कृति के व्यापकरूप में आत्मसात कर लेने के उदाहरण हैं। वेदों में ऋषभ, अरिष्टनेमि, वर्धमान आदि तीर्थंकरों का उल्लेख गुणग्राहकता एवं उदारता का द्योतक है।

भगवान महावीर वेद और ब्राह्मण-विरोधी थे, यह प्रचार भ्रमपूर्ण है। इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते कि उन्होंने वेदों का विरोध किया, बल्कि मस्करी आदि दिगंबर साधुओं का पक्ष न कर इन्द्रभूति आदि को अपना प्रमुख गणधर बनाया और गुणग्राही बने। वेदों आदि में भी हिंसा का विधान अंग्रेज विद्वान् राबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम आदि द्वारा मंत्रों की हिंसापरक व्याख्या करने के कारण हुआ जान पड़ता है। क्योंकि महाभारत के शांतिपर्व अ. २६५,९ में लिखा है कि मद्य, मछली, मधु, मांस आदि वेदों में धूर्तों द्वारा कल्पित किये गये हैं। इसी प्रकार राजा रन्तिदेव के अहिंसक राजाओं में प्रसिद्ध होते हुए भी उसे प्रतिदिन दो हजार गायों और दो हजार पशुओं की हिंसा करने वाला बताया गया है। यह कथन महाभारत वन पर्व अ. २०७-२०८ का है जहां 'वध्येते' का अर्थ वास्तव में यह है कि गायों और पशुओं को बांधकर उनका

---

१ संस्कृति प्रवाह (वैदिक काल के आर्य), पृ. ११८.

२ एलफिस्टन और डा. कीथ की मान्यता है कि आर्य बाहर से आये इसके पुष्ट प्रमाण नहीं है।

दूध अतिथि-सत्कार में दिया जाता था।* चरक संहिता और निघंटु में ऋप का अर्थ एक पौधा है, जो औपध में काम आता है। इसी प्रकार उक्षा सोमलता को कहते हैं जवकि इनका वैल अर्थ कर मांस-भक्षण के अर्थ में उक्त मि. रावर्ट ने प्रयोग किया है। चर्मराशि के भिगोने से जो जल वहता था उससे विशाल नदी प्रकट हुई वह चंवल कहलाई। साकृति पुत्र रंतिदेव ने अतिथियों के लिए २०१०० गायें छूकर दीं। उन्हें स्नान कराने में उनके चर्म का आलंभन (धोकर साफ करने) से उक्त नदी निकली। यहां महाभारत शांति पर्व १२३ में जो संस्कृत श्लोक है उसके आलंभन शब्द का हिंसा करना अर्थ कर दिया गया है इससे यह भ्रांति हो गयी; जवकि गोमेध का अर्थ गोसंवर्धन है या इन्द्रियसंयम है, किन्तु इनका हिंसापरक अर्थ कर दिया गया है। इसीलिए मुनि श्री विद्यानंदजी अपने प्रवचनों में यह स्पष्ट वताते हैं कि भ. महावीर हिंसा के विरोधी थे, न कि वेदों के। उन्होंने अहिंसा रूपी शास्त्र से भटके हुए प्राणियों का हृदय परिवर्तन किया। हमें भी भावात्मक एकता की वात करना चाहिए। भ्रामक वातों का प्रचार करने वाले साहित्य से वचना चाहिए।

इस ग्रन्थ को लिखते हुए मुनिश्री ने अनेकांत और स्याद्वाद के स्वरूप पर इसीलिए रोचक उदाहरणों से विशद प्रकाश डाला है ताकि समन्वय की भावना और विश्वधर्म का लोकमानस पर अच्छा प्रभाव पड़े; क्योंकि स्याद्वाद सहानुभूतिमय है। उसमें समन्वय की क्षमता है। वह उदारता के साथ अन्य वादों में आग्रह के अंश को छांट कर उन्हें अपना अंग वनाता है। यह वौद्धिक अहिंसा कही जाती है।†

आज जैनों में ही सांप्रदायिकता और परस्पर ईर्ष्या द्वेष वढ़ रहे हैं। निर्वाण-महोत्सव के द्वारा वाहर हम भ. महावीर की देशना का प्रचार करना चाहते हैं और घर में उस पर अमल नहीं कर पा रहे हैं। मुनिश्री ही ऐसे हैं जो अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व, त्यागमय जीवन तथा वक्तृत्व से भावनात्मक ऐक्य का प्रयत्न कर रहे हैं। 'परस्परोपग्रहो जीवानां' और 'वसुधैव कुटुम्वकम्' सदृश वाक्यों की व्याख्या श्रोताओं को तभी प्रकाशित कर सकती है जव इन सूत्रों के व्याख्याता स्वयं निर्विकार और और असांप्रदायिक हों। आजकल की प्रवुद्ध

---

* मांसौदनं औक्षेण वार्षभेण वा—पुत्र की आकांक्षा, पूर्णायु और वेदज्ञाता होने के लिए युवा व वृद्ध वैल का मांस खावे (वृहदारण्य ६-४-१८).

† 'दिनकर' के उद्‌गार हैं कि 'सहिष्णुता, उदारता, सामाजिक संस्कृति, अनेकांतवाद, स्याद्वाद और अहिंसा ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में यह भारत वर्ष की सव से वड़ी विलक्षणता है जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है।

जनता से व्यक्ति छिपा नहीं रह सकता। मुनिश्री की 'पिच्छी-कमंडलु' और 'निर्मल आत्मा ही समयसार' आदि रचनाएँ समुज्ज्वल कृतियाँ हैं जो उनके चिंतन, मनन, अभीक्ष्ण ज्ञानाराधन, असाधारण प्रतिभा एवं लोकहित की भावना की परिचायक हैं।

मुनिश्री के इन्दौर वर्षावास के सुयोग से जो दिशा प्राप्त हुई उसका परिणाम वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति है और समिति के प्रभावशाली प्रमुख कार्यकर्ता श्री वाबूलालजी पाटोदी प्रभृति उदारमना सज्जनों के पुरुषार्थ से इसके विविध उद्देश्यों को कार्यन्वित किया जा रहा है।

इन्दौर
दीपावली वी. नि. सं. २५००

—नाथूलाल शास्त्री

"महावीर ने एक ऐसी साधु संस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर निर्धारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त सारे संसार में २५०० वर्षों तक अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त में इसने नव भारत के पिता महात्मा गांधी को अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अहिंसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गांधी ने नवीन भारत का निर्माण किया।"

—टी. एन. रामचन्द्रन्

अध्यक्ष—पुरातत्त्व विभाग, भारत

अनुक्रम

जीवन्त-स्वामी-प्रतिमा।

परन्तु कुछ तथ्य ऐसे हैं, जिनसे विश्वास होता है कि महावीर की पूजा उनके जीवन-काल में भी की जाती थी। लगभग संसार त्यागने से एक वर्ष पूर्व, जब महावीर अपने राज-प्रासाद में ध्यान-मग्न खड़े हुए थे उस समय की यह मूर्ति बनाई हुई है। इसलिए इस मूर्ति में एक राजमुकुट, कुछ गहने तथा शरीर के निचले भाग के वस्त्र महावीर के शरीर पर परिलक्षित होते हैं। महावीर के जीवनकाल की मूर्ति होने के कारण इसे जीवन्त-स्वामी-प्रतिमा के नाम से जाना जाता है। ये कल्पना उनके जीवनकाल में विद्यमान थी। बाद की कल्पना इसी मूर्ति की अनुगामी है जिसे कि जीवन्त-स्वामी-प्रतिमा के नाम से जाना जाता है।

—संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका

जून, १९७२ : अंक सं. ९

महावीर-वन्दना

(पादाकुलक छन्द)

"सन्मतिजिनपं सरसिजवदनं । संजनिताखिल कर्मकमथनं ॥
पद्मसरोवरमध्यगतेन्द्रं । पावापुरि महावीर जिनेंद्रं ॥
वीरभवोदधिपारोत्तारं । मुक्तिश्रीवधुनगरविहारं ॥
द्विद्वादशकं तीर्थपवित्रं । जन्माभिषकृत निर्मलगात्रं ॥
वर्धमान नामाख्यविशालं । मान प्रमाण लक्षणदशतालम् ॥
शत्रुविमथनविकटभटवीरं । इष्टैश्वर्यधुरीकृतदूरं ॥
कुंडलपुरि सिद्धार्थ भूपाल । स्तत्पत्नी प्रियकारिणि बालं ॥
तत्कुलनलिन विकाशितहंसं । घातपुरोघातिकविध्वंसं ॥
ज्ञानदिवाकर लोकालोकं । निर्जितकर्मारातिविशोकं ॥
बालत्वे संयमसुपालितं । मोहमहानलमथनविनीतं ॥"

—पं० आशाधर सूरि

भारतीय साहित्य में चौबीस तीर्थंकर

'अस्मिन्वै भारते वर्षे जन्म वै श्रावके कुले ।
तपसा. युक्तमात्मानं केशोत्पाटन पूर्वकम् ।।
तीर्थकराश्चतुर्विंशत्तथातैस्तु पुरस्कृतम् ।
छायाकृतं फणीन्द्रेण ध्यानमात्र प्रदेशिकम् ।।'

—वैदिक पद्मपुराण ५।१४।३८९-९०

(इस भारतवर्ष में २४ (चौबीस) तीर्थंकर श्रावक (क्षत्रिय) कुल में उत्पन्न हुए। उन्होंने केशलुंचनपूर्वक तपस्या में अपने आपको युक्त किया। उन्होंने इस निर्ग्रन्थ दिगम्बर पद को पुरस्कृत किया। जब-जब वे ध्यान में लीन होते थे फणीन्द्र नागराज उनके ऊपर छाया करते थे।)

चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं--

'ऋषभनाथ,अजितनाथ,सम्भवनाथ, अभिनन्दन नाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभनाथ, पुष्पदन्तनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वीरनाथ।'

डा. बुद्धप्रकाश डी. लिट्. ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' में लिखा है--

"महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में श्रेयांस, अनत, धर्म, शान्ति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगता है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है।"

तीर्थंकर वर्द्धमान

"यह सुविदित है कि जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे। मिथिला प्रदेश के लिच्छवी गणतन्त्र से, जिसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है, महावीर का कौटुम्बिक सम्पर्क था। उन्होंने श्रमण-परम्परा को अपनी तपश्चर्या के द्वारा एक नयी शक्ति प्रदान की जिसकी पूर्णतम परम्परा का सम्मान दिगम्बर-परम्परा में पाया जाता है। भगवान् महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे। उनके नाम और जन्म-वृतान्त जैन साहित्य में सुरक्षित हैं। उन्हींमें भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैनकला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित का उल्लेख श्रीमद्भागवत् में भी विस्तार से आता है और यह सोचने पर वाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा? भागवत में ही इस बात का उल्लेख है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया।*

भगवान् महावीर तप:प्रधान संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं। भोगों से भरे हुए इस संसार में एक ऐसी स्थिति भी संभव है जिसमें मनुष्य का अडिग मन निरन्तर संयम और प्रकाश के सान्निध्य में रहता हो—इस सत्य की विश्वसनीय प्रयोगशाला भगवान् माहवीर का जीवन है। वर्द्धमान महावीर गौतम बुद्ध की भाँति नितान्त ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। माता-पिता के द्वारा उन्हें भी हाड़-माँस का शरीर प्राप्त हुआ था। अन्य मानवों की भाँति वे भी कच्चा दूध पीकर बढ़े थे; किन्तु उनका उदात्त मन अलौकिक था। तम और ज्योति, सत्य और अनृत के संघर्ष में एक वार जो मार्ग उन्होंने स्वीकार किया, उस पर

---

* "येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ: श्रेष्ठगुणश्चासीत्।
येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥" —भागवत ५।४।९.

दृढ़ता से पैर रखकर हम उन्हें निरन्तर आगे बढ़ते हुए देखते हैं। उन्होंने अपने मन को अखण्ड ब्रह्मचर्य की आँच में जैसा तपाया था, उसकी तुलना में रखने के लिए अन्य उदाहरण कम ही मिलेंगे। जिस अध्यात्म केन्द्र में इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त की जाती है उसकी धाराएँ देश और काल में अपना निस्सीम प्रभाव डालती हैं। महावीर का वह प्रभाव आज भी अमर है। अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य कैसा साम्राज्य निर्मित कर सकता है, उस मार्ग में कितनी दूर तक वह अपनी जन्म-सिद्ध महिमा का अधिकारी बन सकता है, इसका ज्ञान हमें महावीर के जीवन से प्राप्त होता है। बार-बार हमारा मन उनकी फौलादी दृढ़ता से प्रभावित होता है। कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहकर शरीर के सुख-दुःखों से निरपेक्ष रहते हुए उन्होंने काय-साधन के अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श को प्रत्यक्ष दिखाया था। निर्बल संकल्प का व्यक्ति उस आदर्श को मानवी पहुँच से बाहर भले ही समझे, पर उसकी सत्यता में कोई संदेह नहीं हो सकता। तीर्थंकर महावीर उस सत्यात्मक परिधि के केन्द्र में अखंड प्रज्वलित दीप की भाँति हमारे सामने आते हैं। यद्यपि यह पथ अत्यन्त कठिन था; किन्तु हम उनके कृतज्ञ हैं कि उस मार्ग पर जब वे एक बार चले तो न तो उनके पैर रुके और न डग-मगाये। उन्होंने अन्त तक उसका निर्वाह किया। त्याग और तप के जीवन को रसमय शब्दों में प्रस्तुत करना कठिन है, किंतु फिर भी इस सुन्दर जीवन में कितने ही मार्मिक स्थल हैं, तथा कितनी ही ऐसी रेखाएँ हैं जो उनके मानवीय रूप को साकार बनाती हैं।

सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य, तप और अपरिग्रह रूपी महान् आदर्शों के प्रतीक भगवान महावीर हैं। इन महाव्रतों की अखण्ड साधना से उन्होंने जीवन का बुद्धिगम्य मार्ग निर्धारित किया था और भौतिक शरीर के प्रलोभनों से ऊपर उठकर अध्यात्म भावों की शाश्वत विजय स्थापित की थी। मन, वाणी और कर्म की साधना उच्च अनन्त जीवन के लिए कितनी दूर तक संभव है, इसका उदाहरण तीर्थंकर महावीर का जीवन है। इस गंभीर प्रज्ञा के कारण आगमों में महावीर को **दीर्घप्रज्ञ** कहा गया है। ऐसे तीर्थंकर का चरित धन्य है।

लोक-कल्याण की कामना से जो तप करते हैं, उनको हमारा प्रणाम। बन्धनात्मक जड़ तत्त्व पर विजय पाकर जिस दिन महावीर स्वामी के जीवन में आत्म चैतन्य का प्रकाश हुआ वह उनके जीवन का प्रथम प्रभात था। उसे ही शास्त्रों में 'श्री-सूर्योदय' कहा गया है। प्रत्येक सुनहली उषा इसी प्रकार के श्री-सम्पन्न सूर्योदय का संदेश हमारे लिए लाती है। प्रतिदिन बढ़ती हुई आयु के साथ हम इस संदेश का अधिकाधिक साक्षात्कार कर सकें, यही दैनिक पर्यवेक्षण के द्वारा हम सबका प्रयत्न होना चाहिये।* —डा. वासुदेवशरण अग्रवाल

□ □

---

* तीर्थंकर महावीर, जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व-पीठिका; महावीर डायरी आदि से।

गांधार पन्नगपदोपपदे च विद्ये दत्वा फणावदीधपो विधिवत्स ताभ्याम् ।
धीरो विसर्ज्य नय विद्विनितौ कुमारौ स्वावासमेव च जगाम कृतेष्टकार्यः॥*

—जैनाचार्य जिनसेन, आदि पुराण १९।१८५

(इस प्रकार नयों को जानने वाले धीर-वीर धरणेन्द्र ने उन दोनों को गान्धार पदा और पन्नगपदा नाम की दो विद्याएँ दीं और फिर अपना कार्य पूरा कर वृषभदेव के चरणों में विनय से झुके हुए दोनों राजकुमारों को छोड़कर अपने निवास स्थान पर चला गया।)

(गान्धार विद्या पन्नग विद्या चेति द्वे विद्ये)
सील नं. ११५/१९२९–३० सिन्धु-घाटी-मोहन-जो-दारो

—'नमि और विनमि प्रजापति वृषभदेव के साथ हो गये, वे वृषभदेव से राज्य माँग रहे थे; किन्तु वृषभदेव मौन थे। उस समय नागराज वृषभदेव की वन्दना करने आया। उस नागराज ने नमि-विनमि को उक्त दोनों विद्याएँ दीं और उनके लिए वैताढ्य पर्वत पर उत्तर व दक्षिण श्रेणी में क्रमशः ६० और ५० नगर वसाये।

---

* 'नमि विनमीण जायण, नागिन्दो वेज्जदाण वेयड्ढे।
उत्तर दाहिण सेढी, सट्ठी पन्नास नगराई॥'—नावश्यक निर्युक्ति 340
गंधव्व (प्राकृत), गंधर्व (संस्कृत), गन्दरवा (अवेस्ता), केन्टारस (यूनान)।
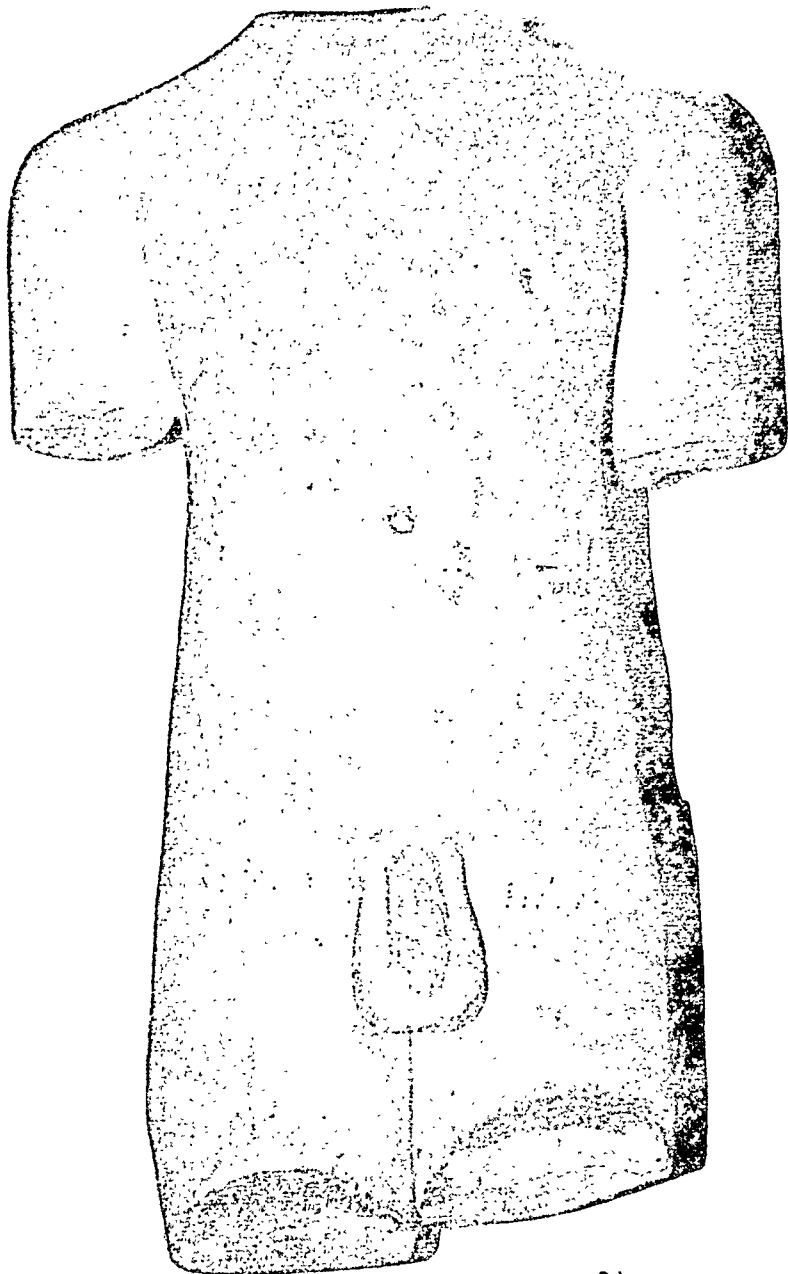
(पटना, पुरातत्त्व-संग्रहालय, प्राप्त १९१२ ई.)

"...किन्तु एक दूसरा प्रमाण जो सन्देह-रहित है, सामने आ जाता है। वह पटना के लोहानी-पुर मुहल्ले से प्राप्त एक नग्न कायोत्सर्ग मूर्ति है। उस पर मौर्यकालीन ओप या चमक है और श्री काशीप्रसाद जायसवाल से लेकर आज तक के सभी विद्वानों ने उसे तीर्थंकर-प्रतिमा माना है। उस दिशा में वह मूर्ति अब तक की उपलब्ध सभी बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म-सम्बन्धी मूर्तियों से प्राचीन ठहरती है। कलिंगाधिपति खारवेल के हाथीगुम्फ शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि कुमारी पर्वत पर जिन प्रतिमा का पूजन होता था। इन संकेतों से भी इंगित होता है कि जैनधर्म की यह ऐतिहासिक परम्परा और अनुश्रुति अत्यन्त प्राचीन थी।

—डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

.....उक्त नंदिवर्धन ने मगध साम्राज्य को, जो अजातशत्रु के समय से ही बनना प्रारंभ हो गया था, और भी बढ़ाया। उसने कलिंग को भी जीत लिया था तथा वहाँ से लूटकर और निधियोंके साथ जिन (जैन तीर्थंकर) की मूर्ति भी ले आया था[१]। ई. पू. ५ वीं शती में जैन मूर्त्तियाँ बनने का यह अकाट्य प्रमाण है। इसी समय के कुछ पीछे कृष्ण की मूर्ति के अस्तित्व का अनुमान होता है।[२]

□□

---

१ रूपरेखा, जिल्द २, पृ. ६२४.

२ भारतीय मूर्ति-कला, पंचम संस्करण, लेखक—रायकृष्णदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२५०० वर्ष पूर्व
महावीर कालीन भारत
काम्बोज
गांधार
तिब्बत
कैलाश पर्वत
पारस
मरु
आभीर
मत्स्य
सौवीर
सिंधु
मल्ल
वत्स
विदेह
कामरूप
प्रागज्योतिष
अवन्ति
लोहित्य
विदर्भ
सवर
मरहट्ट
दक्षिणापथ
आंध्र
पाण्ड्य
अपार समुद्र
पूर्व समुद्र
सीहल
ताम्रपर्णि
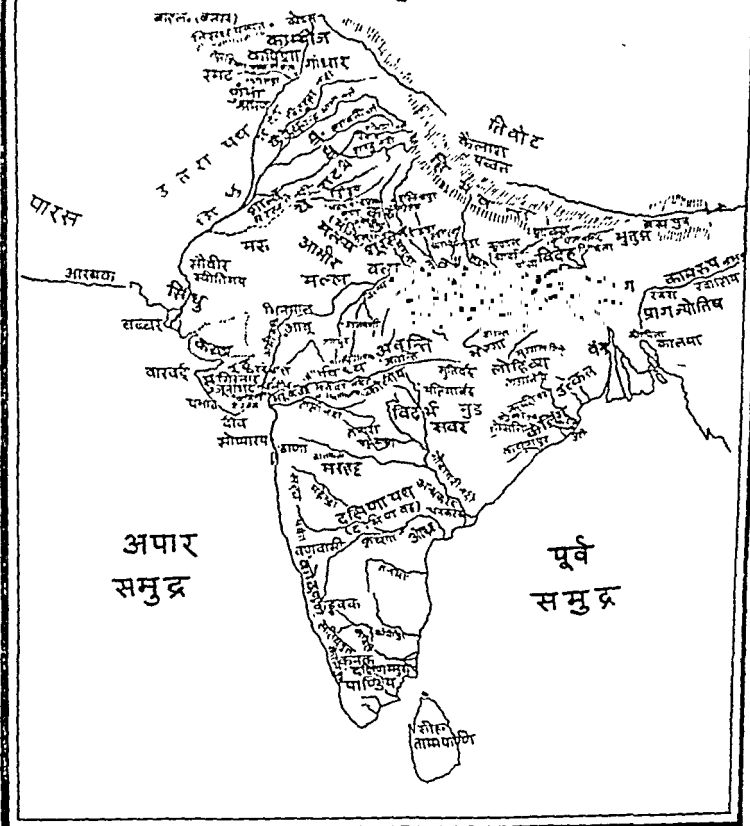
जीवन-तथ्य

सौर मान से काल-गणना

वर्षायनर्तुयुग पूर्वक मत्र सौरात्,
मासास्तथा च तिथयस्तुहिदांशु मानात् ।
यत्कृच्छ्र सूतक चिकित्सक वासरांध,
तत्सावनाश्च घटिकादिक मार्क्ष मानात् ।

(वर्ष, अयन, ऋतु, युगादि का विचार सौर मान से, मास और तिथि विचार चान्द्र मान से, कृच्छ्र व्रत-सूतक-चिकित्सा के दिन-वार आदि का विचार सावन-मान से तथा घड़ी-पल आदि का विचार नाक्षत्र मान से करना चाहिये ।)

वर्द्धमान महावीर का जन्म-स्थान

१—कुण्डग्राम — काव्यशिक्षा

२—कुंडग्गाम — आवश्यक निर्युक्ति

३—क्षत्रियकुण्डग्राम

४—कुण्डलपुर

५—कुण्डलीपुर — चामुण्डराय (वर्द्धमान पुराण)

६—कुण्डपुर—आचण्ण वर्द्धमान पुराण

७—सिरिकुण्डगाम — नेमिचन्द्र सूरि, महावीर चरित्त

८—कुण्डला — आचार्यसक लकीर्ति

९—वैशाली नामकुंडे — वैशाली के उत्खनन से प्राप्त मुहर पर अंकित

जन्म-कुण्डली

जन्म: चैत्र सुदी १३, सोमवार, ई. पू. ५९९; नक्षत्र : उत्तरा फाल्गुनि, सिद्धार्थी संवत्सर (५३); राशि–कन्या, निशान्त समय
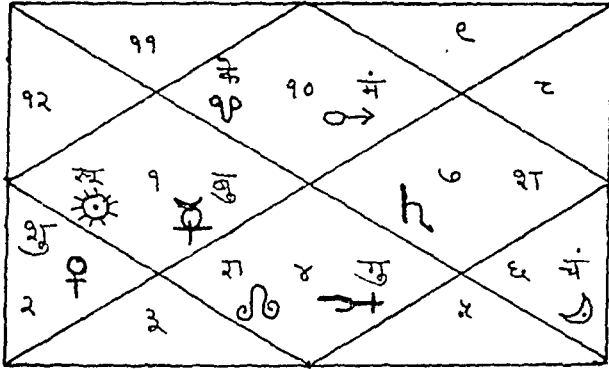
महादशा : बृहस्पति; दशा : शनि; अन्तर्दशा : बुध

जन्म-स्थान : वैशाली–कुण्डलपुर (क्षत्रिय कुण्डग्राम)

पिता : सिद्धार्थ; नाना–चेटक

माता : त्रिशला; नानी–सुभद्रा

कुल–नाथ, जाति–लिच्छवि, वंश–इक्ष्वाकु, गोत्र–काश्यप

---

१ 'दृष्टे ग्रहैरथ निजोत्त्वगतैः समग्रैर्लग्ने यथा पतितकालमसूत राज्ञी।
चैत्रे जिनं सिततृतीयजया निशान्ते सोमान्हि चन्द्रमसि चोत्तर फाल्गुनिस्थे ॥'

—असग कवि, वर्द्धमान चरित्र, १७।५८.

(उच्च ग्रहों द्वारा लग्न के दृष्टिगोचर होने पर, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सोमवार को उत्तर फाल्गुनि नक्षत्र पर चन्द्र की स्थिति होने पर निशा के अन्त भाग में रानी ने तीर्थंकर महावीर को जन्म दिया।)

(क) 'चैत्र सितपक्ष फाल्गुनि शशांक योगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे सर्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥'

(ख) 'अच्छित्ता णवमासे अट्ठयदिवसे चइत सियपक्खे।' —जय धवला, भाग १, पृ. ७८.

पंच कल्याणक तिथियां

गर्भकाल संवत्सर

आषाढ़ शु. ६ उत्तर-हस्ता, शुक्रवार १७ जून, ५९९ ई. पू.

जन्म सिद्धार्थी*

चैत्र शु. १३ उत्तर फा., सोमवार २७ मार्च, ५९९ ई. पू.

दीक्षा सर्वधारी

मगसिर कृ. १० उत्तर हस्ता, सोमवार २९ दिसम्वर, ५६९ ई. पू.

केवलज्ञान शार्वरी

वैशाख शु. १० उत्तर-हस्ता, रविवार २३ अप्रेल, ५५७ ई. पू.

निर्वाण शुक्ल

कार्तिक कृ. ३० स्वाति, मंगलवार १५ अक्टूबर, ५२७ ई. पू.

---

* 'वेदशास्त्र प्रभावज्ञः सिद्धि चितश्च कोमलः।
सुकुमारो नृपैः पूज्यः कविः सिद्धार्थिनो नरः॥'

—मानसागरी पद्धति; ५२.

विशद काल-निर्णय

१—कुमार काल	२९ वर्ष	७ माह	१२ दिन	
२—तप काल	१२ वर्ष	५ माह	१५ दिन	
३—देशना काल	२९ वर्ष	५ माह	२० दिन	
४—योगनिरोध	—	—	२ दिन	
	७० वर्ष	६ माह	१८ दिन	
५—गर्भकाल	—	९ माह	७ दिन	१२ घंटे
	७१ वर्ष	३ माह	२५ दिन	१२ घंटे

---

१. अट्ठावीसं सत्तयमासे दिवसे य वारसयं ॥३०॥ —जय ध; भाग १, पृ.७८.

२. गमइय छदुमत्थत्तं वारसवासाणि पंचमासेय।
पण्णरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो ॥३२॥

३. वासाणू णत्तीसं पंच य मासे य वीमदिवसे य ॥३५॥ —जय ध., भाग १, पृ. ८१

४. पष्ठेन निष्ठित कृतिजिन वर्द्धमानः ॥२६॥ ~(निर्वाण भक्ति)
—संस्कृत टीका—पष्ठेन दिन द्वयेन परिसंख्याते आयुपिसति।

५. अच्छित्ता णवमासे अट्ठयदिवसे चइत्त-सियपक्खे।
—जय. ध., भाग १, पृ. ७८.

स्थूल काल-निर्णय

१. कुमार-काल ३० वर्ष

२. तप-काल १२ वर्ष

३. देशना-काल ३० वर्ष

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाण-भक्ति के निम्नांकित श्लोकों में महावीर का कुमार-काल ३० वर्ष, तप-काल १२ वर्ष और देशना-काल ३० वर्ष माना है। इस प्रकार उन्होंने महावीर की आयु स्थूल गणना के अनुसार ७२ वर्ष मानी है।*

---

* मुक्तवा कुमार काले त्रिंशद्वर्षाण्यनंतगुणराशिः। नि. भ. ७.

(क) उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादश वर्षाण्यमरपूज्यः।१०।

(ख) देशयमानो व्यहरस्त्रिंश द्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः।१५।

—आचार्य पूज्यपाद निर्वाण भक्ति

(ग) 'द्विसप्ततिः स्यात्खलु वर्धमाने।।'

—वरांग चरित्र, सप्तति, ५५ श्लोक

(घ) वर्धमान महावीर की परम आयु केवल ७२ वर्ष थी।

यह अभिलेख ई. पू. ४४३ का है*

"मिणाय' नामक ग्राम जो अजमेर से ३२ मील दूर है. पं. गौरी-शंकर हीराचन्द ओझा (अजमेर के पुरातत्त्वान्वेषी) ने एक किसान से एक पत्थर प्राप्त किया जिस पर वह तम्बाकू कूटा करता था। पत्थर पर अंकित कुछ अक्षर थे जिसे उन्होंने पढ़ा, अक्षर प्राचीन लिपि में थे, वे अक्षर थे—

'विराय भगवताय चतुरसीतिवस काये सालामालिनिय······ रंनि विट माज्झमिके··············।'

अभिप्राय—महावीर भगवान से ८४ वर्ष पीछे शालामालिनी नाम के राजा ने **माज्झमिका** नामक नगरी में, जो कि पहले मेवाड़ की राजधानी थी-किसी बात की स्मृति के लिए यह लेख लिखवाया था। यह शिलालेख वीर के निर्वाण के ८४ वर्ष बाद लिखाया गया है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पहले वीर निर्वाण संवत् प्रचलित था और लेखादि में उसका उपयोग किया जाता था। उक्त शिलालेख अजमेर म्यूजियम में सुरक्षित है।"

---

* यह अभिलेख सेठ भागचन्द सोनी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।
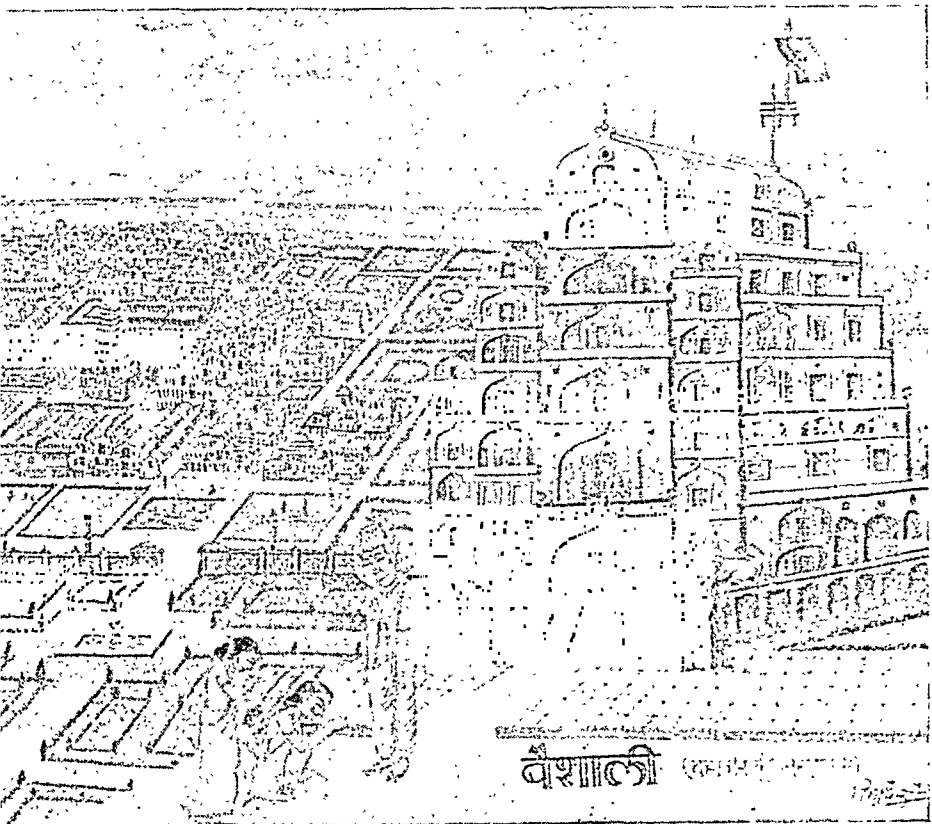
'वैशाली जन का प्रति पालक, गण का आदि विधाता ।
जिसे ढूंढ़ता देश आज उस प्रजातंत्र की माता ।।
रुको एक क्षण, पथिक यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ ।
राज सिद्धियों की सम्पत्ति पर फूल चढ़ाते जाओ ।।

—राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

महात्मा बुद्ध ने लिच्छवियों को 'स्वर्ग के देवता' कहा है,—

ये सं भिक्खवे ! भिक्खुनं देवा तावतिंसा श्रदिट्ठा ।
श्रोलोकेथ भिक्खवे ! लिच्छवनी परिसं, श्रपलोकेथ,
भिक्खवे ! लिच्छवी परिसरं ! उपसंहरथ भिक्खवे !
लिच्छवे ! लिच्छवी परिसरं तावतिंसा सदसन्ति ।।'

—महापरिनिव्वाण सुत्त–६६

(देखो भिक्खुओ, लिच्छवियों की परिषद् को, भिक्खुओ, देखो लिच्छवियों की परिषद् को ! भिक्खुओ, लिच्छवियों की परिषद् को देव-परिषद् (त्रयस्त्रिंश) समझो !' देवताओं की परिषद्-सी दिखाई पड़ने वाली लिच्छवी-परिषद को देखकर महात्मा गौतम बुद्ध कितने पुलकित और आनन्द-विभोर हो गये ! उन्होंने देव-परिषद् की तरह उसे दिव्य दर्शन कहा !)

'वैशालीनाम कुण्डे-कुमारामात्याधिकरण (स्य)'*

ON A VAISALI SEAL BELONGING TO THE GUPTA PERIOD THE LEGEND READS—'VESALINAMAKUNDE

* A. S. I. R. for 1913-14 Plate XIVII (with an account on p. 134 Seal No. 200)

" 'सिन्धुदेशे विशालाख्यपत्तने चेटको नृपः ।
श्री मज्जिनेन्द्र पादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।।'

—आराधना कथा कोष ४, पृ. २२८, वैशाली।

" 'शिलि विषयद वैशाली नगर मनालव परमार्हच्चेटक महीपतिगं।'

—चामुण्डरायकृत, वर्धमान पुराण, पृ. २६५.

KUMARAMATYADHIKARANA. THIS KUNDA IS CLEARLY RELATED TO 'KSHATRIYAKUNDA' (SYA) BECAUSE NO OTHER KUNDA IN THE AREA IS OTHERWISE KNOWN*

"एक वैशाली मुद्रा जो कि गुप्तकालीन है, उसमें एक गाथा है, **'वैशालीनाम कुण्डे, कुमारामात्याधिकरण'** (स्य) जिसका तात्पर्य है कि उपर्युक्त कुण्ड स्पष्टतया क्षत्रियकुण्ड से सम्बन्धित था, क्योंकि इस प्रकार का दूसरा कुण्ड, इस क्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता।"

"चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (वर्द्धमान) के जन्म स्थान के विषय में अनेक मत हैं। परन्तु यथार्थ यह है कि महावीर का जन्म वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन में स्थित बसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है। कुण्डग्राम को आजकल वासुकुण्ड कहते हैं। लिच्छुआड़ क्षत्रिय कुण्ड या कुण्डलपुर ही महावीर का वास्तविक जन्म-स्थान है। प्राचीन लिच्छवियों की राजधानी वैशाली को ही आजकल बसाढ़ कहते हैं और महावीर को विदेह, विदेहदत्त, विदेह-सुकुमार और वैशालिक भी कहा गया है। यह निष्कर्ष वैशाली नाम से निकाला गया है; क्योंकि सूत्र कृतांग १३ में महावीर को वैशालिक नाम दिया गया है। वैशालिक का अर्थ अन्ततोगत्वा वैशाली का रहने वाला है। अतः महावीर का यह नाम उपयुक्त ही था जबकि कुण्डग्राम वैशाली के निकटस्थ था।

सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला राजा चेटक की पुत्री थी, जो कि वैशाली के राजा थे। उन्हें वैदेही या विदेहदत्ता कहा जाता है क्योंकि वे विदेह के शासक वंश में पैदा हुई थी। इस प्रकार महावीर का अपने समय में वैशाली के महत्वपूर्ण लिच्छवी गणतंत्र क्षत्रियों से रक्त-सम्बन्ध था।

---

* A. S. I. R. for 1913-14; Plate xivii (with an account on p. 134; Seal No. 200): An Early History of Vaishali by Dr. Yogendra Mishra; page 224.

"वैशाली के ठीक वाहर कुण्डग्राम नामक नगर था। संभवतः वासु कुण्ड के आधुनिक ग्राम के रूप में वह जीवित है और यहीं पर सिद्धार्थ नामक एक सम्पन्न राजा रहते थे जो ज्ञातृ नामक एक क्षत्रिय कुल के मुखिया थे। यही सिद्धार्थ वर्द्धमान (महावीर) के पिता थे।"[1]

एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार वैशाली नगर में तीन भाग थे— "वैशाली के तीन भाग थे। पहिले भाग में ७००० सोने के गुम्बद वाले मकान, मध्य में १४००० चाँदी के गुम्बददार मकान और अंतिम भाग में २१००० ताँबे के गुम्बद वाले मकान थे। इन मकानों में उच्च, मध्यम और निम्नवर्ग के लोग अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार रहते थे"[2]

जैनों के अन्तिम तीर्थंकर जैनधर्म-ग्रन्थों में "वैशालीय" वैशाली के निवासी कहे जाते हैं और यह भी कहा जाता है कि उनका जन्म-स्थान विदेह कुण्डग्राम में था। विदेह और तिरहुत दोनों का प्रयोग प्राचीन लेखकों द्वारा पर्यायवाची अर्थों में होता है।"[3]

---

१. डा. जाल कार्पेण्टियर पीएच. डी. उपसाला विश्वविद्यालय, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द १, पृ. १५७.

२. रॉक हिल (लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ. ६२)।

३. डा. टी. ब्लाश, आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया 'बसाढ़ की खुदाई' शीर्षक, पृ. ८२.

वैशाली नगर

८०००–महल मकान (हर मकान में उद्यान और तालाव)

१,६८,०००–जनसंख्या (वाह्य नागरिक और आन्तरिक नागरिक)

७०००–सुवर्ण गुम्वद

१४०००–रजत गुम्वद

२१०००–ताम्र गुम्वद

७७०७–संसद् सदस्य[1]

अट्ठ खो इमा आनंद ! परिसा.......... ।[2]

अर्थ:–

हे आनन्द ! परिषद् आठ प्रकार की होती हैं।

(१) क्षत्रिय-परिषद् (२) श्रमण-परिषद्, (३) ब्राह्मण-परिषद् (विद्वत्-परिषद्), (४) गृहपति-परिषद्, (५) चातुर्महाराजिक-परिषद्, (६) त्रायस्त्रिंश-परिषद्, (७) मार-परिषद् (८) ब्रह्म-परिषद्।

---

१. 'गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकरा।' महा. सभा. १४/२.
एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजा राजेति। –ललित विस्तर ३/२३, पृ. १५.

२. महापरिनिब्बानसुत्त.

नन्द्यावर्त राज प्रासाद

'आषाढ़स्य सिते पक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तरा–
पाढ़ सप्ततल प्रासादस्याभ्यन्तर वर्तिनि ॥
नन्द्यावर्त* गृहे रत्नदीपिकाभिः प्रकाशिते,
रत्नपर्यंके हंस-तूलिकादि विभूषिते ॥'

–आचार्य गुणभद्र, महापुराणे-उत्तरपुराण ७४।२५३-५४

(आषाढ़ शुक्ल षष्ठी के दिन जबकि चन्द्रमा उत्तराषाढ़ नक्षत्र में था, तब सिद्धार्थ की प्रसन्न-बुद्धि रानी प्रियकारिणी त्रिशला सात-खण्ड वाले राजमहल में रत्नदीपिका प्रकाशित नन्द्यावर्त राजप्रासाद में हंस-तूलिका आदि से सुशोभित रत्न-पलंग पर सो रही थी। अयोध्या में भारत-चक्रवर्ती के राजभवन के एक पक्ष का नाम भी नन्द्यावर्त था ;)

---

* नन्द्यावर्तो निवेशोऽस्य शिविरस्याल धीयसः ।
प्रासादो वैजयन्ताख्यो यःसर्वत्र सुखावहः ॥

—आचार्य जिनसेन, आदिपुराण ३३/१४७.

तीर्थंकर महावीर

भूपति मौलि माणिक्यः सिद्धार्थो नाम भूपतिः ।
कुण्डग्राम पुरस्वामी तस्य पुत्रो जिनोऽवतु ।।

—काव्य शिक्षा ३१

(कुण्ड ग्राम* नामक नगर के क्षत्रिय राजन्य नृपति सिद्धार्थ राजाओं के मुकुट-मणि हैं । उनके पुत्र महावीर तीर्थंकर हमारी रक्षा करें।)

जव ग्रीष्म का सूर्य अपनी प्रखर किरणों से जगत् को संतप्त कर डालता है, पक्षियों का उन्मुक्त गगन विहार वन्द हो जाता है, स्वच्छन्द विहारी हिरणों की खुले मैदान की आमोदमयी क्रीड़ा रुक जाती है, असंख्य प्राणधारियों की तृषा बुझाने वाले सरोवर सूख जाते हैं, उनकी सरस मिट्टी भी नीरस हो जाती है, जनता का आवागमन अवरुद्ध हो जाता है, प्राणदायक वायु भी तप्त लू वनकर प्राणहारक वन जाती है, समस्त थलचर, नभचर प्राणी असह्य ताप से त्राहि-त्राहि करने लगते हैं ।

तव, जगत् की उस व्याकुलता को देखकर प्रकृति करवट लेती है, आकाश में सजल काले वादल छा जाते हैं, संसार का सन्ताप मिटाने के लिए उनमें से शीतल जल-विन्दु टपकने लगते हैं; वाष्प (भाप) के रूप में पृथ्वी से लिये हुए जल-ऋण को आकाश सूद-समेत चुकाने के लिए जलधारा की झड़ी वाँध देता है । जिससे पृथ्वी न केवल अपनी प्यास वुझाती है, अपितु असंख्य व्यक्तियों की प्यास

---

* 'अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्ड समः श्रियः।
तत्राखण्डलनेत्राली पद्मिनी खण्डमण्डनम्
सुखांभः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ।।'.

—आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण १/२११-५

बुझाने के लिए अपना भंडार भी भर लेती है, जनता के आमोद-प्रमोद के लिये हरी घास की चादर भी बिछा देती है, समस्त जगत् का सन्ताप दूर हो जाता है और सभी मनुष्य पशु-पक्षी आनन्द की ध्वनि करने लगते हैं।

इसी तरह स्वार्थ की आड़ में जब दुराचार-अत्याचार संसार में फैल जाता है; दीन, हीन, नि:शक्त प्राणी निर्दयता की चक्की में पिसने लगते हैं, रक्षक जन ही उनके भक्षक बन जाते हैं, स्वार्थी दयाहीन मानव धर्म की धारा अधर्म की ओर मोड़ देता है, दीन असहाय प्राणियों की करुण पुकार जब कोई नहीं सुनता तब प्रकृति का करुण स्रोत बहने लगता है। वह ऐसा पराक्रमी साहसी वीर ला खड़ा करती है, जो अत्याचारियों के अत्याचार को मिटा देता है*; दीन-दु:खी प्राणियों का संकट दूर करता है और जनता को सत्पथ दिखाता है।

आज से २६०० वर्ष पहिले भारत की वसुन्धरा भी पाप-भार से काँप उठी थी। जनता जिन लोगों को अपना धर्म-गुरु पुरोहित मानती थी, धर्म का अवतार समझती थी, उन ही का मुख रक्त-माँस का लोलुप बन गया था, अत: वे अपनी लोलुपता शान्त करने के लिए स्वर्ग, राज्य, पुत्र, धन आदि का प्रलोभन देकर भोली-अबोध जनता से हवन कराते थे—उनमें बकरों आदि अनेक मूक, निरीह और निरपराध पशुओं, यहाँ तक कि कभी-कभी धर्म के नाम पर क़त्ल करके उनके माँस का हवन करते थे। ज्ञानहीन जनता उन स्वार्थी, माने हुए धर्म-गुरुओं के वचनों को परमात्मा की वाणी समझकर दयाहीन पाप को धर्म समझ बैठी थी; इस तरह दीन, निर्बल, असहाय पशुओं की करुणा-जनक आवाज सुनने वाला कोई न था।

इस प्रकार माँस-लोलुप धर्मान्धों का स्वार्थ और जनता का अज्ञान उस पाप-कृत्य का संचालन कर रहा था। उस समय आवश्यकता थी

---

* 'आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च सम्पदाम्।
धर्मग्लानिं परिप्राप्तमुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमा:' ॥' —पद्म पुराण ५/२०६

'विसय विरत्तो समणो छद्दसवर कारणं भाऊण।
तित्थयर नामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥' —भावपाहुड ७६.

जन-साधारण को ज्ञान का प्रकाश देने की—और पथ-भ्रष्ट धर्मान्धों का हृदय वदलने की, जिससे भारत का पाप-भार हल्का होता और पाप की दुर्गन्ध देश से दूर होती।

उस समय धन-जन पूर्ण विशाल नगरी 'वैशाली' गणतन्त्र शासन की केन्द्र वनी हुई थी। उस लिच्छवी गणतन्त्र शासन के गणनायक थे राजा चेटक[१]। चेटक की गुणवती त्रिलोक सुन्दरी पुत्रियों में से एक का नाम था 'त्रिशला'। त्रिशला का कुण्डलपुर (कुण्ड ग्राम) के शासक ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के साथ उत्तम तिथि पर पाणि-ग्रहण हुआ था, रानी त्रिशला राजा सिद्धार्थ को वहुत प्रिय थी, अतः उसका अपर नाम 'प्रियकारिणी' भी प्रसिद्धि पा चुका था, त्रिशला सर्वगुण-संपन्ना आदर्श नारी थी।

एक समय रात्रि को जव रानी त्रिशला नंद्यावर्त राजभवन में, आनन्द से सो रही थी, तव उसे रात्रि के अन्तिम पहर में सोलह सुन्दर स्वप्न दिखायी दिये[२]: १. हाथी, २. वैल, ३. सिंह, ४. लक्ष्मी ५. दो मालाएँ, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. दो मछलियाँ, ९. जल से भरा सुवर्ण कलश, १०. तालाव, ११. समुद्र, १२. सिंहासन, १३. देवों का विमान, १४. धरणेन्द्र का भवन, १५. रत्नों का ढेर, १६. निर्धूम अग्नि। वह रात्रि आषाढ़ सुदी ६ की थी, उस समय हस्त नक्षत्र था।

स्वप्नों को देखकर त्रिशला रानी की नींद खुल गई। 'इन स्वप्नों का क्या फल होगा?' त्रिशला को यह जानने की वहुत उत्कण्ठा हुई। अतः प्रभात समय के कार्य समाप्त करके स्नान करने के अनन्तर वह

---

१ 'सो चेडवो सावग्रो।'—ग्राव. चू. उ. १६४ चेटकस श्रावको।' त्रिषष्ठि. १०६/१८८
'नयविनय विक्रमादि गुणपेटकने निप चेटक राजंगमतुल सौभाग्य भद्रेयनिसिद नृभद्रेगं॥'
—ग्राचण्ण, वर्धमान, पुराण १५६/२५२

२ माता-यस्य-प्रभाते करिपति वृषभो सिंहपोतं च लक्ष्मी।
मालायुग्मं शशांक रविझषयुगले पूर्ण कुम्भौ तटाकं॥
पाथोधिं सिंह पीठं सुरगणनिभृतं व्योमयानं मनोज्ञं।
चाद्राक्षी न्नागवासं मणि गण शिखिनौ तं जिनं नौमि भक्त्या॥ ॥१॥

बड़ी उमंग के साथ राजा सिद्धार्थ के पास पहुँची। राजा सिद्धार्थ ने त्रिशला को बड़े सम्मान और प्रेम के साथ अपनी बायीं ओर सिंहासन पर बैठाया और मुस्कराते हुए आने का कारण पूछा।

रानी त्रिशला ने मधुर वाणी में प्रभात से कुछ पूर्व देखे हुए सोलह सु-स्वप्न सुनाये और राजा सिद्धार्थ से इन स्वप्नों के प्रकट फल पूछे।

राजा सिद्धार्थ निमित्त-शास्त्र के वेत्ता (जानकार) थे, उन्होंने त्रिशला रानी के देखे हुए स्वप्नों का फल* जानकर बड़ी प्रसन्नता के साथ रानी से कहा कि तुम एक सौभाग्यशाली, बलवान, तेजस्वी, अतिशय ज्ञानी, महान गुणी, यशस्वी, जगत् के उद्धारक, मुक्तिगामी पुत्र की माता बनोगी। आज वह तुम्हारे उदर में अवतरित हुआ है। इसकी शुभ सूचना देने के लिए ही ये स्वप्न तुम्हें दिखायी दिये हैं।

अस्वप्नपूर्वं जीवानां न हि जातु शुभाशुभम्।।'

—क्षत्र चूड़ामणि १।१२

अपने घर अत्यन्त सौभाग्यशाली जीव का आगमन जानकर राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला को बहुत हर्ष हुआ। वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे, जब उन्हें पुत्र-मुख देखने का मंगल अवसर प्राप्त होगा।

देवों ने इन मंगल क्षणों में राजा सिद्धार्थ के घर बहुत उत्सव किया। उसी दिन से ५६ कुमारिका देवियाँ त्रिशला रानी की सेवा करने के लिए नियुक्त हुईं। इन देवियों ने रानी त्रिशला की गर्भावस्था में बहुत अच्छी परिचर्या की। रानी की चिर-नियुक्त परिचारिका प्रियंवदा भी रानी की सुख-सुविधा में पूरा योग दे रही थी। प्रियंवदा ने रानी को किसी भी तरह शारीरिक तथा मानसिक कष्ट नहीं होने दिया। विविध मनोरंजनों द्वारा उसने रानी त्रिशला का चित्त प्रसन्न रखा, उन्हें किसी तरह का खेद न होने दिया।

---

* 'सिद्धार्थ नृपति तनयो भारत वास्ये विदेह कुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः।।' —निर्वाण भक्ति ४.

जन्मोत्सव

नौ मास सात दिन वारह घंटे व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी* के शुभ दिन अर्यमा योग में रानी त्रिशला ने एक अनुपम, तेजस्वी, सर्वांग सुन्दर पुत्र को प्राची से होने वाले सूर्योदय की भाँति, जन्म दिया। उस समय समस्त जगत् में शान्ति की लहरें विजली की तरह फैल गईं। नारकीय यंत्रणाओं से निरन्तर दुःखी जीवों को भी उस क्षण में शान्ति की साँस मिली। समस्त कुण्डलपुर में आनन्द-भेरी वजने लगी। सारा नगर हर्ष में निमग्न हो गया। पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में राजा सिद्धार्थ ने वहुत दान किया और राज्योत्सव मनाया।

जव सौधर्म का इन्द्रासन स्वयं कम्पित हो उठा तव इन्द्र को अवधि-ज्ञान से ज्ञात हुआ कि कुण्डलपुर में अन्तिम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। वह तत्काल समस्त देव-परिवार को साथ लेकर, नृत्य-गान करते हुए कुण्डलपुर आया। वहाँ राजभवन में पहुँच उसने अगणित मंगल महोत्सव मनाये। कुण्डलपुर का कण-कण उन देवोत्सवों में गूँज उठा। इन्द्र ने माता त्रिशला की स्तुति करते हुए कहा––

"माता, तू जगन्माता है। तेरा पुत्र विश्व का उद्धार करेगा। जगत् का भ्रम और अज्ञान दूर करके विश्व का पथ-प्रदर्शक वनेगा। तू धन्य है! इस जगत् में तुझ जैसी भाग्यशालिनी माता कोई और नहीं है।"

इन्द्र ने राजा सिद्धार्थ का भी वहुत सम्मान किया। तदनन्तर इन्द्राणी उस नवजात वालक को प्रसूति-गृह से वाहर ले आयी और माता के पास एक अन्य कृत्रिम वालक रख आयी। इन्द्र उस वाल तीर्थंकर को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो, सुमेरु पर्वत

---

* 'चैत्रसित पक्ष फाल्गुनि शांशकयोगे दिने त्रयोदश्या्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥'—

—निर्वाण भक्ति ५.

'पार्थिव चूडारत्नं तीर्थकरेंदूदयाचलं प्राप्ताने–
कार्यं परिपालित वुध सार्थ सिद्धार्थ नेनेयोलत्ते कृतार्थं ॥

—आचण्ण, वर्धमान. पु. (कन्नड़) १३/३६.

पर गया। वहाँ सिंहासन पर बाल तीर्थंकर का अभिषेक किया। अभिषेक के बाद कुमार तीर्थंकर को जब इन्द्राणी पोंछ रही थी तब वे उनके कपोल-प्रदेश के जल-बिन्दुओं को सुखाने में असमर्थ रहीं। ज्यों-ज्यों जितना वे उन्हें पोंछती थीं, त्यों-त्यों वे उतने ही विशेष दमक उठते थे। तदनन्तर इन्द्राणी की भ्रान्ति स्वयं ही दूर हो गयी; क्योंकि वास्तव में वे जल की बूंदें नहीं, अपितु इन्द्राणी के आभूषणों के प्रतिबिम्ब मात्र थे जो तीर्थंकर के स्वच्छ वदन पर दमक कर जल-बिन्दुओं की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे थे। तीर्थंकर स्वभावतः सुन्दर थे, उन्हें सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनाये गये[1] और खूब हर्षोत्सव किया गया। नंद्यावर्त राज प्रासाद के ध्वज पर सिंह[2] का चिह्न था, अतः अन्तिम तीर्थंकर का चरण चिह्न 'सिंह' रखा गया। जन्म समय से ही राजा सिद्धार्थ का वैभव, यश, प्रताप, पराक्रम अधिक बढ़ने लगा था, इस कारण उस बालक का नाम 'वर्धमान'[3] रखा गया।

१—षोडशाभरण

> 'धृत्वा शेखर पट्टहार पदकं ग्रैवेयकालंबकम्।
> केयूरां गदमध्य बंधुर कटीसूत्रं च मुद्रान्वितम्।।
> चंचलकुंडल कर्णपूर....पाणिद्वये कंकणम्।
> मंजीरं कटकं पदे जिनपतेः श्री गंधमुद्रांकितम्।।'

राजकुमार महावीर के सोलह आभूषणों का वर्णन यहां प्रस्तुत है—

१—शेखर २—पट्टहार ३—पदक ४—ग्रैवेयक ५—आलंबक ६—केयूर ७—अंगद ८—मध्यबंधुर ९—कटीसूत्र १०—मुद्रा ११—चंचल कुंडल १२—कर्णपूर १३—कंकण १४—मंजीर १५—कटक १६—श्रीगंध।

२. 'सिंहोऽर्हतांध्वजाः।' इति हेमचन्द्रः। 'सिंहो लांछनान्यर्हतां।' प्रतिष्ठा. ११/३.

३. 'तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं
दृष्ट्वा मुदा विधुकलामिव वर्धमानान्
सार्धं सुरैर्भगवतो दशमेह्नि तस्य
श्री वर्धमान इति नाम चकार राजा।।' —वर्धमान चरित्र, १७-९१.

अभिषेकोत्सव के पश्चात् इन्द्र ऐरावत हाथी पर सवार होकर राजमार्ग से कुण्डलपुर आया। वाल-तीर्थंकर वर्धमान को इन्द्राणी पुन: माता त्रिशला के पास लिटा आयी; तदनन्तर समस्त देव-परिवार लौट गया।

यह समय पूर्ववर्ती तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पीछे का तथा ईसा से ५९९ वर्ष पहले का था।*

तीर्थंकर वर्धमान शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा के समान वढ़ने लगे। अपनी वाल-लीलाओं से माता-पिता, समस्त राज-परिवार को आनन्दित करने लगे। जन्म से ही उनके शरीर में अनेक अनुपम विशेषताएँ थीं—जैसे, उनका शरीर अनुपम सुन्दर था, शरीर के समस्त अंग-उपाङ्ग पूर्ण एवं ठीक थे, कोई भी अंग लेशमात्र हीन, अधिक, छोटा या वड़ा नहीं था; शरीर से सुगन्ध आती थी, पसीना नहीं आता था। वे वलशाली थे, उनके शरीर का रक्त दूध की तरह पवित्र था। उनकी पाचन-शक्ति असाधारण थी, जिससे उन्हें मल-मूत्र नहीं होता था; वाणी वहुत मधुर थी; शंख, चक्र, कमल, यव, धनुष आदि १००८ शुभ लक्षण एवं चिह्न उनके शरीर में थे। वे जन्म से ही महान् ज्ञानी (अवधिज्ञानी) थे।

जिस तरह वाहरी पदार्थों को जानने के लिए उनकी ज्ञान-ज्योति असाधारण थी, उसी तरह उनमें आध्यात्मिक स्वानुभूति भी अलौकिक थी, पूर्वभव से उदीयमान क्षायिक सम्यक्त्व (अविनाशी-स्वात्मानुभव) उनको था। ऐसी अनेक अनुपम महिमामयी विशेषताओं के पुञ्ज तीर्थंकर थे।

उत्तरोत्तर वढ़ते हुए जव तीर्थंकर वर्द्धमान की वय आठ वर्ष की हुई, तव उन्होंने विना प्रेरणा के स्वयं आत्मशुद्धि की दिशा में पग वढ़ाते हुए हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के आंशिक त्याग की प्रतिज्ञा करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

---

* 'पार्श्वेशतीर्थं सन्ताने पंचाशद् द्विशताब्द के
तदभ्यन्तर वर्त्यात्युर्महावीरोऽत्र जातवान्॥' —उत्तरपुराण २७, पृ. ४६२

ब्रह्मचर्य और सीमित परिग्रह रूप पंच अणुव्रतों का आचरण किया।

'स्वायुराद्यष्ट वर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् ।
उदिताष्ट कषायाणां तीर्थेषां देश संयमः ॥'

—आचार्य गुणभद्र, उत्तर पुराण, ६।३५

वर्द्धमान के नामान्तर

श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के असाधारण ज्ञान की महिमा सुनकर संजयंत और विजयंत नामक दो चारण ऋद्धि-धारक मुनि अपनी तत्त्व-विषयक कुछ शंकाओं का समाधान करने के लिए उनके पास आये; किन्तु श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के दर्शन करते ही उनकी शंकाओं का समाधान स्वयं हो गया, उन्हें समाधान के लिए कुछ पूछना न पड़ा, यह आश्चर्य देखकर उन मुनियों ने तीर्थंकर वर्द्धमान का अपर नाम 'सन्मति'[1] रख दिया।'

'तत्वार्थनिर्णयात्प्राप्या सन्मतित्वं सुबोधवाक् ।
पूज्यो देवागमाद्भूत्वात्राकलंकावभूविथ ॥'

—उत्तरपुराण ७३।२

एक दिन कुण्डलपुर में एक बड़ा हाथी मदोन्मत्त होकर गजशाला से वाहर निकल भागा। वह मार्ग में आने वाले स्त्री-पुरुषों को कुचलता हुआ, वस्तुओं को अस्त-व्यस्त करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा। उसे देखकर कुण्डलपुर की जनता भयभीत हो उठी और प्राण वचाने के लिए यत्र-तत्र भागने लगी। नगर में भारी उथल-पुथल मच गयी।

श्री वर्द्धमान अन्य वालकों के साथ क्रीड़ा[2] कर रहे थे, मदोन्मत्त हाथी उधर ही जा झपटा। हाथी का काल जैसा विकराल रूप देख,

---

१. 'सन्मतिर्महतिर्वीरो महावीरोऽन्त्य काश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥' —धनंजय नाममाला ११५
'अलं तदिति तं भक्त्या विभूष्योद्धविभूषणैः।
वीरः श्रीवर्धमानश्चेत्यस्याद्वितयं व्यधात् ॥ —उत्तरपुराण, ७४/२७६.

२. 'मनोऽनुकूलं च वयोऽनुकूलं नानाविधं क्रीडनमाचरन्ति।
ये शक्रपुत्रा जिनबालकेन ते सन्तु चामी कुलजाः कुमाराः ॥ —प्रति ६.

खेलने वाले वालक भयभीत होकर इधर-उधर भागे परन्तु वर्द्धमान ने निर्भय होकर कठोर शव्दों में हाथी को ललकारा। हाथी को वर्द्धमान की ललकार सिंह-गर्जना से भी अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुई अतः वह सहमकर खड़ा हो गया। भय से उसका मद सूख गया। तव वर्द्धमान उसके मस्तक पर जा चढ़े और अपनी वज्र मुष्टियों (मुक्कों) के प्रहार से उसे विल्कुल निर्मद कर दिया।

तव कुण्डलपुर की जनता ने राजकुमार वर्द्धमान की निर्भयता और वीरता की वहुत प्रशंसा की और वर्द्धमान को 'वीर' नाम से पुकारने लगी, इस तरह राजकुमार वर्द्धमान का तीसरा नाम 'वीर' प्रसिद्ध होगया।

एक दिन संगम नामक एक देव अत्यन्त भयानक विषधर का रूप धारण कर राजकुमार की निर्भीकता तथा शक्ति की परीक्षा करने आया। जहाँ पर वर्द्धमान कुमार अन्य किशोर वालकों के साथ एक वृक्ष* के नीचे खेल रहे थे। वहाँ वह विकराल सर्प फुंकार मारता हुआ उस वृक्ष से लिपट गया। उसे देखकर सव लड़के वहुत भयभीत हुए, अपने-अपने प्राण वचाने के लिए वे इधर-उधर भागने लग, चीत्कार करने लगे, कुछ भय से मूच्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े; परन्तु कुमार वर्द्धमान सर्प को देखकर रंच मात्र भी न डरे। उन्होंने निर्भयता पूर्वक सर्प के साथ क्रीड़ा की और उसे दूर कर दिया।

तव राजकुमार वर्द्धमान की निर्भयता देखकर वह देव वहुत प्रसन्न हुआ और उसने प्रगट होकर वर्द्धमान तीर्थंकर की स्तुति की एवं उनका नाम 'महावीर' रखा और वालक को कंधे पर विठाकर नृत्य करने लगा। कुमार वर्द्धमान के अतिरिक्त अन्य तीन कुमार थे— चलधर, काकधर और पक्षधर।

---

* 'वटवृक्षमथैकदा महान्तं सह डिम्भैराधिरुह्य वर्धमानम्।
रममाणमुदीक्ष्य संगमाख्यो विवुधस्त्रासयितुं समाससाद्॥'
—असग महाकविकृत, वर्द्धमान चरित्र, ७/६५.

'संगमकनेंवदेवं तां गडकेलुत्तुमिर्दु भय राहित्यं॥
—आचण्ण, वर्धमान पु. १४/६७.

बकरे जैसे मुखवाला संगमदेव जो वर्धमान की निर्भयता से प्रभावित होकर उन्हें कन्धे पर बैठाये नृत्य-विभोर है*

विवाह का उपक्रम

राजकुमार वर्द्धमान जन्म से ही सर्वांग सुन्दर थे, किन्तु जब उन्होंने कैशोर्य समाप्त करके यौवन में पदार्पण किया तब उनकी सुन्दरता उनके अंग-प्रत्यंग से और अधिक झाँकने लगी। उनके असाधारण ज्ञान, बल, पराक्रम, तेज, तथा यौवन की वार्ता प्रसिद्ध हो चुकी थी,

---

* यह प्रसंग सेनापति चामुण्डराय कृत' वर्द्धमान पुराणम्' (कन्नड़ भाषा) के पृष्ठ २६१ पर आया है। प्रस्तुत चित्र यमुना, मथुरा से प्राप्त ८ इंची मूर्ति-शिलापट्ट का है। यह मथुरा पुरातत्त्व संग्रहालय, संग्रह सं. १११५ (हरीनाई गणेश) की कुषाण कालीन प्रतिमान्तर्गत है। क्रीड़ारत राजकुमार हैं—वर्द्धमान, चलधर, काकधर, पक्षधर।

अतः अनेक राजाओं की ओर से महावीर के साथ अपनी-अपनी राजकुमारी के पाणिग्रहण प्रस्ताव आने लगे।*

कलिंग-नरेश राजा जितशत्रु की सुपुत्री राजकुमारी यशोदा उन सव राजकुमारियों में त्रिलोक सुन्दरी एवं सर्वगुण सम्पन्न नव-युवती थी; अतः राजा सिद्धार्थ और त्रिशला ने वर्द्धमान कुमार का पाणिग्रहण उसी के साथ करने का निर्णय किया; तदनुसार वे राजकुमार का विवाह वहुत वड़े समारोह के साथ करने के लिए तैयारी करने लगे।

अपने विवाह की वात जव कुमार महावीर को ज्ञात हुई तो उन्होंने उसे स्वीकार न किया। माता-पिता ने वहुत कुछ समझाया परन्तु कुमार वर्द्धमान विवाह वन्धन में बँधने के लिए तत्पर न हुए।

यौवन के समय स्वभाव से नर-नारियों में काम-वासना प्रवल वेग से उदीयमान हो उठती है, उस कामवेग को रोकना साधारण मनुष्य के सामर्थ्य से वाहर हो जाता है। मनुष्य अपने प्रवल पराक्रम से महान् वलवान वनराज सिंह को, भयानक विकराल गजराज को वश में कर लेता है, महान् योद्धाओं की विशाल सेना पर विजय प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसे कामदेव पर विजय पाना कठिन हो जाता है। संसार में पुरुष-स्त्री, पशु-पक्षी आदि समस्त जीव कामदेव के दास वने हुए हैं। इसी कारण नर-नारी का मिथुन (जोड़ा) काम-शान्ति के लिए जन्म-भर विषय-वासना का कीड़ा वना रहता है। उस अदम्य काम-

---

* 'जिनेन्द्र वीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागतः कुण्डपुरं सुहृत्परः
सुपूजिता कुण्डपुरस्यभूभृता नृपोऽयमाखण्डल तुल्य विक्रमः।।
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर विवाह मंगलं
अनेक कन्या परिवांरया रुहत्समीक्षितुं तुंग मनोरथं तदा।।
स्थितेऽथनाथे तपसि स्वयं भुवि प्रजात कैवल्यविशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षितिं विहाय स्थित वांस्तपस्ययम्।।

—हरिवंश पुराण, ६६/८.

वासना का लेशमात्र भी प्रभाव क्षत्रिय नवयुवक राजकुमार वर्द्धमान के हृदय पर न हुआ।

राजकुमार महावीर ने कहा कि मैं जगत् के जीवों को मिथ्या संसार-बंधन से मुक्त होने का मार्ग बताने आया हूँ फिर मैं स्वयं गृहस्था-श्रम के बन्धन में क्यों पड़ूं? फैली हुई हिंसा, अज्ञान, भ्रम, दुराचार, अत्याचार का संसार से निराकरण करने का महान् कार्य मेरे सामने है; अतः मैं कामाग्नि का दास बनकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं कर सकता।

अपने पुत्र का उच्च ध्येय सिद्ध करने के लिए ब्रह्मचर्य की अटल भावना जानकर रानी त्रिशला और राजा सिद्धार्थ चुप रह गये। उन्होंने सोचा कि वर्द्धमान हमारा पुत्र है, वय में हमसे छोटा है, किन्तु ज्ञान, आचार-विचार में हमसे बहुत बड़ा है। हित-अहित की वार्ता तथा कर्त्तव्य का निर्देश हम उसे क्या समझायें, वह सारे जगत् को समझा सकता है; अतः वह जस पुनीत पथ में आगे बढ़ना चाहता है, हमें उसमें बाधा डालना उचित नहीं।

ऐसा परामर्श करके उन्होंने कलिंग-नरेश जितशत्रु के राजकुमार वर्द्धमान के साथ यशोदा के विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और फिर कभी वर्द्धमान को विवाह करने के लिए संकेत भी नहीं किया।

तीर्थंकर वर्द्धमान के पिता राजा सिद्धार्थ कुण्डलपुर के शासक थे। उनके नाना राजा चेटक वैशाली-गणतन्त्र के प्रमुख नायक थे, वे अनेक राजाओं के अधीश्वर थे, अतः राजकुमार वर्द्धमान को सब तरह के राज सुख प्राप्त थे। कोई भी शारीरिक या मानसिक कष्ट उन्हें नहीं था। वे यदि चाहते तो पाणिग्रहण करके वैवाहिक काम-सुख का उपभोग और कुण्डलपुर के राज सिंहासन पर बैठकर राज शासन भी कर सकते थे; परन्तु जिस तरह जल में रहता हुआ कमल भी जल से अलिप्त रहता है उसी तरह राजकुमार वर्द्धमान सर्वसुख-सुविधा-

सम्पन्न राजभवन में रहकर भी संसार की मोह-माया से अलिप्त रहे; अखण्ड वाल ब्रह्मचर्य से शोभायमान रहे।[1]

इस तरह राजभवन में रहते हुए उन्होंने २८ वर्ष, ७ मास, १२ दिन का समय ब्रह्मचर्य से व्यतीत कर दिया।[2]

संसार से वैराग्य

तदनन्तर वर्द्धमान को एक दिन अचानक अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया। उन्हें ज्ञात हुआ कि 'मैं पूर्वभव में सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र था, वहाँ मैं २२ सागर तक दिव्य भोग-उपभोगों को भोगता रहा। उससे पूर्वभव में मैंने संयम धारण करके तीर्थंकर-प्रकृति का वन्ध किया था जिसका उदय इस भव में होने वाला है। इस समय संसार में धर्म के नाम पर पाप और अत्याचार फैलता जा रहा है, अतः पाप और अज्ञान को दूर करना परम आवश्यक है। जव तक मैं संयम ग्रहण न करूँगा, तव तक मैं आत्मशुद्धि नहीं कर सकता और जव तक स्वयं शुद्ध-वुद्ध

---

१ 'वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः।
'कुमार' निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे॥' —पद्म पुराण २०/६७.

'णेमी मल्ली वीरो कुमार कालंमि वासुपूज्यो ये
पासो विय गहिदतवो सेस जिणां रज्ज चरिमं मि॥'

—तिलोयपण्णत्ती ४' ६०/७२.

'वीरं अरिट्ठनेमि, पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
ए.ए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो॥243॥
राय कुलेसु वि जाया विसुद्ध वंसेसु खत्तिय कुलेसु।
न च इच्छियामिसेया कुमारवासंम्मि पव्वइया॥'244॥' —आवश्यक निर्युक्ति

'वासुपूज्यस्तथा मल्लिर्नेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः।
कुमाराः पञ्च निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयः परे॥' —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. ६५.

२ 'अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः।
कुमारावस्थायामपि निजवलाद्येन विजितः॥
स्फुरन्नियानंदप्रशमपदराज्याय स जिनो।
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥'— महावीराष्टक स्तोत्र, ७
'दुक्कर तव चरणरओ खंति खमो उग्गवंभचेरो य।
अप्प पर तुल्ल चित्तो मोणव्वय पाणभोई य॥'—महावीर चरित्र (नेमिचन्द्र)

न वन जाऊँ, तव तक विश्व-कल्याण नहीं कर सकता। अतः मोह ममता के कीचड़ से वाहर निकल कर मुझे आत्मविकास करना चाहिये।

इस प्रकार वैराग्य-भावना वर्द्धमान के हृदय में जाग्रत हुई, उसी समय लौकान्तिक देव उनके सामने आ खड़े हुए और वर्द्धमान से कहा कि 'आपने जो संसार की मोह-ममता तथा विपय-भोगों से विरक्त होकर संयम धारण करने का विचार किया है, वह वहुत हितकारी है। आप तप, त्याग, संयम के द्वारा ही अजर-अमर पद प्राप्त करेंगे; विश्व-ज्ञाता-दृष्टा वनेंगे और विश्व का उद्धार करेंगे।'

लौकान्तिक देवों की वाणी सुनकर वर्द्धमान का वैराग्य और अधिक प्रगाढ़ तथा अविचल हो गया, अतः उन्होंने कुण्डलपुर का राजभवन छोड़कर एकान्त वन में आत्म साधना करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। ब्राह्मणों को राजा सिद्धार्थ ने किमिच्छक* दान दे कर संतुष्ट किया।

उसी समय इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ, तव इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान की वैराग्य-भावना का समाचार जाना; अतः वह देव गण के साथ तत्काल कुण्डलपुर के राजभवन में आ पहुँचा। वहाँ उसने आकर वहुत 'हर्प-उत्सव' किया।

जव त्रिशला रानी को राजकुमार वर्द्धमान के संसार से विरक्त होने का समाचार ज्ञात हुआ तव वह पुत्र-स्नेह में विह्वल हो गयी। उसके हृदय में विचार आया कि 'राजसुख में पला हुआ मेरा पुत्र वन-पर्वतों में नग्न रहकर सर्दी, गर्मी के कष्ट किस तरह सहन करेगा? वन-पर्वतों की कँटीली भूमि कँकरीली भूमि पर अपने कोमल नंगे पैरों से कैसे चलेगा? नंगे सिर धूप, ओस, वर्पा में कैसे रहेगा? कहाँ कठोर तपश्चर्या! और कहाँ मेरे पुत्र का कोमल शरीर!! ऐसा सोचते ही त्रिशला मूर्च्छित हो गयी। परिवार के व्यक्तियों ने तथा दासियों ने शीतल उपचार से उसकी मूर्च्छा दूर की। आये हुए देवों ने माता

---

* 'दीक्षोन्मुखस्तीर्थकरो जनेभ्यः।
किमिच्छकं दानमहो! ददौ यः॥' —प्रति. १०/१

त्रिशला को समझाया कि, माता ! तेरा पुत्र महान् वलवान, धीर-वीर है, वज्र-वृषभ-नाराच संहनन वाला है। अव वह उस सर्वोच्च पद को प्राप्त करने जा रहा है जिससे ऊँचा पद और कोई होता नहीं। तेरा पुत्र संसार से केवल आप अकेला ही पार नहीं होगा वल्कि असंख्य व्यक्तियों को भी संसार से उत्तीर्ण कर देगा। वीर माता ! मोह का आवरण हटा दे !! तू धन्य है ! तुझे तारण-तरण, विश्व उद्धारक तीर्थंकर की जननी कहकर संसार अनन्त काल तक तेरा यशोगान करेगा।'

देवों का संवोधन पाकर माता त्रिशला प्रवुद्ध हुई, फिर भी होने वाले पुत्र-वियोग से तथा यह सोचकर कि विषधर सर्प, भयानक सिंह, वाघ आदि अन्य जीवों से भरे वन, पर्वत, गुफाओं में मेरा पुत्र अकेला कैसे रहेगा ? उसका चित्त शोकाकुल रहा। वर्द्धमान ने अपनी माता, अपने परिवार तथा प्रियजनों को आश्वासन देकर उनसे विदा ली।

कुण्डलपुर (वैशाली) से वाहर तपोवन में वर्द्धमान को ले जाने के लिए 'चन्द्रप्रभा'* नामक सुन्दर दिव्य पालकी लायी गयी। उस पालकी में वर्द्धमान विराजमान हुए। जय-जयकार के हर्ष-घोष के साथ पहिले उस पालकी को मनुष्यों ने अपने कंधों पर उठाया, तदनन्तर इन्द्रों ने, देवों ने उस पालकी को अपने कन्धों पर रखा और आकाश-मार्ग से ज्ञातृखण्ड-वन में पहुंचे।

वन हरा-भरा था, वहाँ शुद्ध वायु का निर्वाध संचार था। किसी तरह का कोलाहल न था और न मन को क्षुब्ध या विचलित करने वाला कोई अन्य पदार्थ था।

उस नीरव शान्त एकान्त वन में पालकी लाकर रखी गयी। तीर्थंकर वर्द्धमान उस पालकी से वड़े उत्साह के साथ वाहर आये। वहाँ एक स्वच्छ शिला थी, जिस पर इन्द्राणी ने रत्नचूर्ण से स्वस्तिक (卐) की कलापूर्ण रचना की थी। तीर्थंकर वर्द्धमान उस पर जाकर वैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपने शरीर के समस्त वस्त्राभूषण

---

* 'चन्द्रप्रभाख्यशिविकामधिरूढो दृढ़व्रतः।
ऊढां परिवृढैर्नृणां ततो विद्याधराधिपैः॥' —उत्तर पुराण, ७४/२९९.

उतार दिये। अपने कृत्रिम (वनावटी) वेप को हटाकर प्राकृतिक स्वतंत्र, नग्न, श्रमण वेष धारण किया। अपने हाथों से अपने सिर के वालों का पाँच मुट्ठियों से लोंच किया, जो शरीर से मोह-त्याग का प्रतीक था। फिर **'नमः सिद्धेभ्यः'** कहते हुए सिद्धों को नमस्कार करके पंच महाव्रत और **पिच्छी-कमण्डलु** धारण किये और सर्व सावद्य* का त्याग करके पद्मासन लगाकर आत्म ध्यान (सामयिक) में लीन हो गये।

इन्द्र ने तीर्थंकर के वालों को समुद्र में क्षेपण करने के लिए रत्न-मंजूषा में रख लिया। इस प्रकार अन्तिम तीर्थंकर महावीर का मगसिर वदी दशमी को हस्त तथा उत्तरा नक्षत्र के मध्यवर्ती समय में दीक्षा-उत्सव करके समस्त इन्द्र, देव, मनुष्य, विद्याधर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

वाहरी विचारों से मन को रोककर मौन भाव से अचल आसन में तीर्थंकर महावीर जव आत्मचिन्तन में निमग्न हुए, उसी समय उनके मनः पर्यय ज्ञान का उदय हुआ, जो निकट भविष्य में केवल ज्ञान के प्रकट होने का सूचक था।

यह तीर्थंकर महावीर के आत्म-अभ्युदय का प्रथम चिह्न था।

तपस्या

महान् कार्य-सिद्धि के लिए महान् परिश्रम करना पड़ता है। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को अनादि समय का कर्म-वन्धन, जिसने अनन्त शक्तिशाली आत्माओं को दीन, हीन, वलहीन वनाकर संसार के वन्दीघर (जेलखाने) में डाल रखा है, को नष्ट करने के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ी, तदर्थ वे जव आत्म-साधना में निमग्न हो जाते थे, तव कई दिन तक एक ही आसन में अचल वैठे या खड़े रहते थे। कभी-कभी एक मास तक लगातार आत्म ध्यान करते रहते थे।

---

* 'सहअवद्येन पापेन वर्तते इति सावद्यं-संसार कारणम्'

उस समय भोजन-पान वन्द रहता ही था; किन्तु इसके साथ वाहरी वातावरण का भी अनुभव न हो पाता था। शीत ऋतु में पर्वत पर या नदी के तट पर अथवा किसी खुले मैदान में बैठे रहते थे, उन्हें भयंकर शीत का भी अनुभव नहीं होता था। ग्रीष्म ऋतु में वे पर्वत पर बैठे ध्यान करते थे, ऊपर से दोपहर की धूप, नीचे से गरम पत्थर, चारों ओर से लू (गरम हवा) उनके नग्न[1] शरीर को तपाती रहती थी; किन्तु तपस्वी वर्द्धमान को उसका भान नहीं होता था। वर्षा ऋतु में नग्न शरीर पर मूसलाधार पानी गिरता था, तेज हवा चलती थी परन्तु महान् योगी तीर्थंकर महावीर अचल आसन से आत्मचिंतन में रहते थे।

वन में सिंह दहाड़ रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं, सर्प फुंकार रहे हैं; परन्तु परम तपस्वी महावीर को उसका कुछ भान ही नहीं है। प्रथम तपस्वी महावीर ने कूल नामक नगर में नृपति दानतीर्थ वकूल[2] के राज प्रासाद में आहार ग्रहण किया था।

जव वे आत्मध्यान से निवृत्त हुए और शरीर को कुछ भोजन देने का विचार हुआ तो निकट के गाँव या नगर में चले गये। वहाँ यदि विधि-अनुसार शुद्ध भोजन मिल गया तो निःस्पृह भावना से थोड़ा-सा भोजन कर लिया और तपस्या करने वन, पर्वत पर चले गये। कहीं दो दिन ठहरें, कहीं चार दिन, कहीं एक सप्ताह; फिर वहाँ से विहार करके किसी अन्य स्थान को चले गये। यदि सोना आवश्यक समझते, तो रात को पिछले पहर कुछ देर के लिए, एक करवट से सो जाते। इस तरह वे आत्मसाधना के लिए अधिक-से-अधिक और शरीर की स्थिति के लिए कम-से-कम समय लगाते थे।

---

१ 'गिरिकन्दर दुर्गेषु ये वसन्ति दिगम्बराः
पाणिपात्रपुटाहारास्ते यान्तिपरमांगतिम्'। —योगि भक्ति २.

२ 'कूलाभिधानधरणीपालंगनुकूलवृत्ति पडियरिनोर्व।'
—आचण्ण कवि, वर्धमान पु. १५/१४.

'धर्मो महात्मा वकुलाभिधानः प्रवर्तितस्तैरेव दानधर्मः॥'

ऐसी कठोर तपश्चर्या करते हुए वे देश-देशान्तर में भ्रमण करते रहे, नगर या गांव में केवल भोजन के लिए आते थे। उसके सिवाय अपना शेष समय एकान्त स्थान, वन, पर्वत, गुफा नदी के किनारे, श्मशान, वाग आदि निर्जन स्थान में विताते थे। वन के भयानक हिंसक पशु जव तीर्थंकर महावीर के निकट आते तो उन्हें देखते ही उनकी क्रूर हिंसक भावना शान्त हो जाती थी; अत: उनके निकट सिंह, हरिण, सर्प, न्यौला, विल्ली, चूहा आदि जाति-विरोधी जीव भी द्वेष, वैर भावना छोड़कर प्रेम, शान्ति से क्रीड़ा किया करते थे।*

चन्दना-उद्धार

इस प्रकार भ्रमण करते-करते तीर्थंकर महावीर एक वार वत्स देश की कौशाम्बी नगरी में आहार के लिए आये। वहाँ एक सेठ के घर सती चन्दना तलघर में वन्दी (कैदी) जैसे दिन काट रही थी, वहुत विपत्ति में थी, उसने सुना कि तीर्थंकर महावीर कौशाम्वी में पधारे हैं। यह सुनते ही उसके हृदय में भावना हुई कि 'मैं भगवान को आहार कराऊँ', किन्तु वह तलघर के वन्दीगृह में पड़ी थी, वेड़ियाँ उसके पैरों में थीं, तपस्वी वर्द्धमान को आहार कराये तो कैसे कराये? यह स्थिति उसकी चिन्ता और दु:ख का और अधिक कारण वन गई।

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी कार्य-सिद्धि भी वैसी ही होती है। इस नीति के अनुसार संयोग से तीर्थंकर महावीर चन्दना के घर की ओर आ निकले। उसी समय सौभाग्य से चन्दना के पैरों की वेड़ियाँ टूट गयीं और वह तलघर से वाहर निकलकर द्वार पर आ खड़ी हुई। जैसे ही श्री वर्द्धमान उस द्वार पर आये कि चन्दना ने वड़े हर्ष और

---

* 'सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसवालं प्रणयपरवशा केकि कान्ता भुजंगम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥'
—ज्ञानार्णव

भक्ति-भाव से उनसे आहार लेने की प्रार्थना (पड़गाहना) की।[1] तीर्थंकर वहीं रुक गये, चन्दना ने नवधा भक्ति पूर्वक तीर्थंकर महावीर को आहार दिया।

उस समय शुभ कार्य सम्पन्नता के सूचक रत्न-वर्षा आदि पाँच आश्चर्य हुए। चन्दना के सतीत्व की परीक्षा हुई, उसका महत्व जनता में प्रकट हुआ और वह बंधन-मुक्त हो गयी।

चन्दना थी तो राजा चेटक की राजपुत्री, किन्तु वाग में झूलते समय एक विद्याधर द्वारा उसका अपहरण हुआ था, जव उसके चंगुल से छूटी तो संयोग से दुर्भाग्यवश उस सेठ के घर दासी के रूप में आ पड़ी। वह नवयुवती थी एवं अति सुन्दर थी, अतः सेठानी ने इस शंका से कि कहीं यह मेरे पति की प्रेम-पात्र न वन जाए, चन्दना को अपने मकान के तलघर में वेड़ियाँ पहनाकर रख दिया था और उसे रूखा-सूखा भोजन दिया करती थी। वह अभागी चन्दना सौभाग्य से तीर्थंकर महावीर का दर्शन कर सकी और उनको आहार कराने का पुण्य अवसर उसे मिला एवं उसकी दासता की वेड़ियाँ कट गयी,[2] तव उसका सतीत्व सेठानी को भी ज्ञात हो गया; अतः सेठानी को वहुत पश्चात्ताप हुआ और उसने चन्दना से अज्ञान-वश हुए अपराधों की क्षमा माँगी।

उपसर्ग

निःसंग वायु जिस प्रकार भ्रमण करती रहती है, एक ही स्थान पर नहीं रुकी रहती, इसी प्रकार असंग निर्ग्रन्थ तीर्थंकर महावीर तपश्चरण करने के लिए भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते हुए जव वे उज्जयिनी नगरी के निकट पहुँचे तव वहाँ नगर के वाहर 'अतिमुक्तक'[3]

---

१ अन्यदा नगरे तस्मिन्नेव वीरस्तनुस्थितेः।
प्रविष्ठवान्निरीक्ष्यासौ तं भक्त्या मुक्तशृङ्खला॥ —उत्तर पुराण ७५।६०

२. 'पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयण कायसुद्धी ऐसणसुद्धि य णवविह पुण्णं॥

३. उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तं श्मशानेऽतिमुक्तके।
वर्धमानं महासत्त्वं प्रतिमायोगधारिणम्॥'—
—आचार्य गुणभद्र, उत्तर पुराण, ७४/३३१.

नामक श्मसान को एकान्त-शान्त प्रदेश जानकर वहाँ आत्मध्यान करने ठहर गये। जब रात्रि का समय हुआ तो वहाँ पर 'स्थाणु' नामक एक रुद्र आया। उस स्थाणु रुद्र ने ध्यान-मग्न तीर्थंकर महावीर को देखा। देखते ही उसने उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए घोर उपसर्ग करने का विचार किया।

तदनुसार अपने सिद्ध विद्यावल से अपना भयानक विकराल रूप बनाया और कानों के पर्दे फाड़ देने वाला अट्टहास किया। अपने मुख से अग्नि-ज्वाला निकाल कर ध्यानारूढ़ तीर्थंकर महावीर की ओर झपटा। भूत-प्रेतों के भयानक नृत्य दिखलाये। सर्प, सिंह, हाथी आदि के भयानक शब्द किये। धूलि, अग्निवर्षा की। इत्यादि अनेक उपद्रव तीर्थंकर को भयभीत करने तथा आत्मध्यान से चलायमान करने के लिए किए; परन्तु उसे कुछ भी सफलता न मिली। न तो परम तपस्वी वर्द्धमान रंचमात्र भयभीत हुए और न ही उनका चित्त ध्यान से चलायमान हुआ। वे उसी प्रकार अपने अचल आसन से ठहरे रहे, जिस प्रकार भयानक आँधी के चलते रहने पर भी पर्वत ज्यों-का-त्यों खड़ा रहता है। अन्त में अपना घोर उपसर्ग विफल होते देख, स्थाणु रुद्र चुपचाप चला गया।

कैवल्य

जगत् में कोई भी पदार्थ बहुमूल्य एवं आदरणीय बनता है तो वह बहुत परिश्रम तथा कष्ट सहन करने के पश्चात् ही बना करता है। गहरी खुदाई करने पर मिट्टी-पत्थरों में मिला हुआ भद्दा रत्न-पाषाण निकलता है, उसको छैनी, टाँकी, हथोड़ों की मार सहनी पड़ती है, शाण की तीक्ष्ण रगड़ खानी पड़ती है, तब कहीं झिलमिलाता हुआ बहुमूल्य रत्न प्रगट होता है। अग्नि के भारी सन्ताप में बार-बार पिघलकर सोना चमकीला बनता है, तभी संसार उसका आदर करता है और पूर्ण मूल्य देकर उत्कंठा से खरीदता है।

आत्मा अनन्त वैभव का पुंज है, उसके समान अमूल्य पदार्थ संसार में एक भी नहीं है। रत्न की तरह उसका वैभव भी अनादि

कालीन कर्म के मैल में छिपा हुआ है। उस गहन कर्म-मल में छिपे हुए वैभव को पूर्ण शुद्ध प्रकट करने के लिए महान् परिश्रम करना पड़ता है, और महान् कष्ट सहन करना पड़ता है, तव यह आत्मा परम शुद्ध विश्ववन्द्य परमात्मा वना करता है।

तीर्थंकर महावीर को भी आत्मशुद्धि के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ी। तपश्चरण करते हुए उनकी पूर्व संचित कर्मराशि निर्जीर्ण (निर्जरा) हो रही थी, कर्म-आगमन (आस्रव) तथा वन्ध कम होता जा रहा था अर्थात् आत्मा का कर्म-मल कटता जा रहा था या घटता जा रहा था। अत: आत्मा का प्रच्छन्न तेज क्रमश: उदीयमान हो रहा था, आत्मा कर्म-भार से हल्का हो रहा था, मुक्ति निकट आती जा रही थी।

विहार करते-करते तपस्वी योगी, तीर्थंकर महावीर विहार (मगध) प्रान्तीय 'जृम्भिका' गाँव के निकट वहने वाली 'ऋजुकूला' नदी के तट पर आये। वहाँ आकर उन्होंने साल वृक्ष के नीचे प्रतिमायोग धारण किया।[१] स्वात्म चिन्तन में निमग्न हो जाने पर उन्हें सातिशय अप्रमत्तगुण स्थान प्राप्त हुआ। तदनन्तर चारित्र मोहनीय कर्म को शेष २१ प्रकृतियों का क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणी का आद्य-स्थान आठवाँ गुण स्थान हुआ। तदर्थ प्रथम शुक्ल ध्यान (पृथकत्व वितर्क विचार) हुआ।

जैसे ऊंचे भवन पर शीघ्र चढ़ने के लिए सीढ़ी (निसैनी) उपयोगी होती है, उसी प्रकार संसार-भ्रमण एवं कर्म-वन्धन के मूल कारण दुर्द्धर्ष मोहनीय कर्म का शीघ्र क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणी उपयोगी होती है। कर्म-क्षय के योग्य आत्म परिणामों का प्रतिक्षण असंख्यात-गुणा उन्नत होना ही क्षपक श्रेणी है। क्षपक-श्रेणी आठवें, नौवें, दसवें और वारहवें गुण स्थान में होती है। इन गुण-स्थानों में चारित्र्य-

१. 'ऋजुकूलायास्तीरे शाल द्रुमसंश्रिते शिलापट्टे।
अपराह्ने षष्ठेनास्थि तस्य खलु जृंभिकाग्रामे'॥' —निर्वाण भक्ति: ११

२. 'नालश्चैते जिनेन्द्राणां दीक्षावृक्षाः प्रकीर्तिताः।
एत एव वुधैर्ज्ञेयाः केवलोत्पत्तिशाखिनः॥' —प्रतिष्ठातिलक १०/५

मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियों की शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जाता है, पूर्ण क्षय बारहवें गुण-स्थान में हो जाता है।

उस समय आत्मा के समस्त क्रोध, मान, काम, लोभ, माया, द्वेष आदि कषाय (कलुषित विकृत भाव) समूल नष्ट हो जाते हैं, आत्मा पूर्ण शुद्ध वीतराग इच्छा-विहीन हो जाता है, तदनन्तर दूसरा शुक्ल ध्यान (एकत्व वितर्क) होता है जिससे ज्ञान-दर्शन के आवरक तथा बलहीन कारक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) कर्म क्षय हो जाते हैं तब आत्मा में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण बल का विकास हो जाता है; जिनको दूसरे शब्दों में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त बल कहते हैं। इन गुणों के पूर्ण विकसित हो जाने से आत्मा पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा बन जाता है। यह आत्मा का १३ वाँ गुण-स्थान कहलाता है।

क्षपक श्रेणी के गुण-स्थानों का समय अन्तर्मुहूर्त है, उसी में योगी सर्वज्ञ हो जाता है। वीतराग सर्वज्ञ हो जाना ही आत्मा का जीवन-मुक्त परमात्मा (अर्हन्त) हो जाना है। आत्मोन्नति या आत्म-शुद्धि का इतना बड़ा कार्य होने में इतना थोड़ा समय लगता है; किन्तु यह महान् कार्य होता तभी है जबकि आत्मा तपश्चरण के द्वारा शुक्ल ध्यान के योग्य बन चुका हो।

तेरहवें गुण स्थान में तीसरा शुक्ल ध्यान (सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती) होता है।

आत्मोन्नति या आत्मशुद्धि अथवा वीतराग, सर्वज्ञ, अर्हन्त, जीवन्मुक्त परमात्मा बनने का यही विधि-विधान तीर्थंकर महावीर को भी करना पड़ा। १२ वर्ष ५ मास १५ दिवस तक* तपश्चर्या करने के अनन्तर उन्होंने प्रथम शुक्ल ध्यान की योग्यता प्राप्त की, तत्पश्चात् पहिले लिखे अनुसार उन्होंने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शना-

---

* 'गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंचमासेय।
पण्णरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो॥'

—जयधवला, भाग १, पृ. ८१.

वरण और अन्तराय चार घातिया कर्मों का क्षय अन्तर्मुहूर्त में करके सर्वज्ञ वीतराग या अर्हन्त जीवन्मुक्त परमात्मापद प्राप्त किया*। अतः वे पूर्ण शुद्ध एवं त्रिकाल ज्ञाता त्रिलोकज्ञ वन गये।

यह शुभ काल वैशाख शुक्ला दशमी के अपराह्न (तीसरे पहर का प्रारम्भ) का समय था।

तीर्थंकर महावीर ने अपने पूर्व तीसरे भव में जिसके लिए तपस्या की थी और इस भव में जिस कार्य के लिए राजसुख एवं घर-परिवार का परित्याग किया था वह उत्तम कार्य सम्पन्न हो गया। यह जहाँ तीर्थंकर महावीर का परम सौभाग्य था, वहीं समस्त जगत् का, विशेष करके भारत का भी महान् सौभाग्य था कि एक सत्य-ज्ञाता, सत्पथ प्रदर्शक एवं अनुपम प्रभावशाली वक्ता उसको प्राप्त हुआ। तीर्थंकर महावीर 'तीर्थंकर प्रकृति' के उदय का भी सुवर्ण अवसर आ गया।

समवशरण

इस विश्व-हितकारिणी घटना की शुभ सूचना कुछ विशेष चिन्हों द्वारा सौधर्म इन्द्र को प्राप्त हुई। तीर्थंकर महावीर के सर्वज्ञाता-दृष्टा अर्हन्त वन जाने की वार्ता जानकर इन्द्र को वहुत हर्ष हुआ। उसने तीर्थंकर महावीर का विश्वकल्याणकारी उपदेश सर्व-साधारण जनता तक पहुँचाने के लिए अपने कोषाध्यक्ष (खजांची) कुवेर को एक सुन्दर विशाल व्याख्यान-सभा-मण्डप (समवशरण) वनाने का आदेश दिया।

कुवेर ने इन्द्र की आज्ञानुसार अपने दिव्य साधनों से अतिशीघ्र एक वहुत सुन्दर दर्शनीय विशाल सभा-मण्डप वनाया। जिसके तीन कोट और चार द्वार थे। द्वारों पर सुन्दर मानस्तम्भ थे। वीच में

---

* 'वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तर मध्यमाश्रिते चंद्रे।
क्षपक श्रेण्यारूढ़स्योत्पन्नं केवलज्ञानम्॥'— —निर्वाण भक्ति : १२

शीलैश्यं सम्प्राप्तो निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः।
कर्मरजो विप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति॥
—गोम्मटसार, जीव काण्ड ६५.

ऊँची तीन कटनी वाली सुन्दर वेदिका (गन्धकुटी) बनी थी। गन्ध-कुटी पर रत्न-जटित सुवर्ण सिंहासन था जिसमें कमल का फूल बना हुआ था। गन्धकुटी के चारों ओर १२ विशाल कक्ष (कमरे) थे, जिनमें देव, देवी, मनुष्य, स्त्री, साधु, साध्वी, पशु, पक्षी आदि उपदेश सुनने वाले भद्र प्राणियों के बैठने की व्यवस्था थी। इसके सिवाय आगन्तुक जनता की सुविधा के लिए अन्य मनोहर स्थान और साधन उस समवशरण में बनाये गये थे। मध्यवर्तिनी उच्च गन्धकुटी के सिंहासन पर तीर्थंकर महावीर के विराजमान होने की व्यवस्था थी, जिससे उनका उपदेश समस्त श्रोताओं (सुननेवालों) को अच्छी तरह सुनाई पड़े।*

उसी समय देवों का दुन्दुभी बाजा वहाँ बजने लगा, जिसकी मधुर-आकर्षक ध्वनि बहुत दूर पहुँचती थी। उस ध्वनि को सुनकर तीर्थंकर महावीर के समवशरण की वार्ता कानों-कान दूर तक फैल गयी। जिससे तीर्थंकर महावीर का दिव्य उपदेश सुनने की उत्कण्ठा से दूर-दूर की जनता चलकर ऋजुकूला नदी के तट पर बने समवशरण में पहुँची।

इन्द्र भी विशाल देव-परिवार के साथ समवशरण में पहुँचा। उसने वहाँ तीर्थंकर के कैवल्य पद का महान् उत्सव किया, तीर्थंकर का दर्शन, वन्दना, पूजन बड़े भक्तिभाव और हर्ष के साथ किया। तदनन्तर समवशरण की सुव्यवस्था की।

समवशरण में महान् प्रकाश था जिससे वहाँ रात और दिन का भेद नहीं जान पड़ता था, वहाँ परम शान्ति थी। वहाँ आये हुए प्रत्येक प्राणी के हृदय में द्वेष, वैर, क्रोध, हिंसा की भावना जाग्रत नहीं होती थी; अतः सिंह, गाय, चीता, हरिण, बिल्ली, चूहा, सर्प, न्यौला

---

* 'ऋषिकल्पजवनितार्या ज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः।
ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसन्ति तेष्वनुपूर्वम्॥'

—'समवशरण एक विशिष्ट धर्मसभा है। 'समवशरण' शब्द का अर्थ है समताभावी तीर्थंकर भगवान् के चरण के शरण में जाना। तीर्थंकरों के समवशरण में क्रम से श्रमण-ऋषिगण, स्वर्गवासी देवी, श्रमणा, ज्योतिषियों की देवी, व्यन्तर देवियां, स्वर्गवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च बैठते हैं।

आदि जाति-विरोधी जीव शान्त व निर्भय होकर साथ-साथ वैठते थे।*

दिव्य उपदेश

समवशरण में असंख्य भव्य जीव तीर्थंकर महावीर का दिव्य उपदेश सुनने के लिए वड़ी उत्कंठा और उत्साह के साथ आये और यथास्थान वैठकर तीर्थंकर की दिव्यवाणी की प्रतीक्षा करने लगे। चकोर पक्षी को चन्द्रिका (चाँदनी) वहुत प्रिय लगती है, वह चाँदनी रात्रि में चन्द्रमा की ओर अपलक दृष्टि से देखा करता है, इसी तरह समवशरण की जनता तीर्थंकर महावीर के मुख की ओर देख रही थी। तीर्थंकर का एक मुख चारों ओर दिखायी दे रहा था। वर्षाऋतु के प्रारम्भ में चातक पक्षी अपनी प्यास आकाश से वरसे हुए जल-विन्दुओं को अपने मुख में लेकर वुझाता है, वह और कोई जल नही पीता, अतः वादलों की ओर अपनी चोंच किये वर्षा की प्रतीक्षा करता रहता है, इसी तरह समस्त जनता के कान तीर्थंकर का उपदेश सुनने के लिए आतुर थे।

वहाँ अनेक मनुष्यों, देवों तथा विद्वानों के हृदय में यह विचारधारा वह रही थी कि 'तीर्थंकर' अव तक तो सर्वदा मौन रहे। तपस्या के दिनों में उन्होंने किसी से एक शब्द भी न कहा; परन्तु अव तो उनको ज्ञान हो गया है, अव उनके तीर्थंकर-प्रकृति का उदय होगा। पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों के समान उनका भी विश्व-उद्धारक, सर्वहितमय पावन उपदेश अवश्य होगा।

परन्तु सारा दिन वीत गया और रात्रि भी समाप्त हो गयी, तीर्थंकर के मुख से एक अक्षर भी प्रकट न हुआ। श्रोताओं ने समझा, अभी कुछ विलम्व है। वहाँ अनेक व्यक्ति नये आये, अनेक पहिले

---

* 'सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसवालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगम्
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥'

आये हुए उठकर चले गये, अनेक वहाँ ठहरे रहे। दूसरा दिन हुआ, दूसरी रात हुई; किन्तु तीर्थंकर की वाणी प्रकट न हुई। इसी तरह कई दिवस व्यतीत हुए किन्तु तीर्थंकर का उपदेश वहाँ पर न हुआ। जनता का चित्त कुछ म्लान हो गया। कतिपय दिन पश्चात् तीर्थंकर का वहाँ से अन्य स्थान के लिए विहार भी हो गया। तीर्थंकर महावीर के आगे-आगे धर्मचक्र चलता था जिसकी चमकती हुई कान्ति समझदारों के लिए भी क्षणभर द्वितीय सूर्य-विंव की शंका उत्पन्न कर देती थी।*

महावीर तीर्थंकर के विहार करते ही कुवेर ने उस मनोज्ञ दिव्य समवशरण को स्वल्प समय में ही हटा लिया, वहाँ पर फिर पहिले जैसा साफ मैदान हो गया। विहार के अनन्तर तीर्थंकर जहाँ ठहरे, वहाँ कुवेर ने पहिले जैसा भव्य सभा-मंडप (समवशरण) थोड़े समय में ही वना दिया। वहाँ भी असंख्य श्रोता (उपदेश सुनने वाले) एकत्र हुए, परन्तु अनेक दिन-रात व्यतीत होने पर भी वहाँ भी उपदेश न हुआ। वहाँ से भी तीर्थंकर का विहार हो गया। वहाँ का समवरशरण विघट (विसर्जित) गया, तीर्थंकर जहाँ पर ठहरे, वहाँ नवीन समवशरण वना। परन्तु अनेक दिन वीत जाने पर तीर्थंकर का उपदेश वहाँ पर भी न हुआ।

तीर्थंकर के इस मौन पर समस्त जनता चकित थी परन्तु मौन का कारण कोई न जान सका। सवकी धारणा यही थी, महावीर तीर्थंकर हैं, मूक केवली नहीं हैं, अतः उनका उपदेश तो अवश्य होगा, कव प्रारम्भ होगा, यह ज्ञात नहीं।

विहार करते-करते तीर्थंकर राजगृही के निकट विपुलाचल पर्वत पर आये वहाँ भी सुन्दर विशाल समवशरण वना और यथा समय असंख्य श्रोता भी वहाँ एकत्र हुए, परन्तु यहाँ भी तीर्थंकर महावीर मौन रहे।

---

* 'अग्रेसरं व्योमनि धर्मचक्रं तस्य स्फुरन्दामुररश्मि चक्रम्।
द्वितीय तिग्मद्युति विवशंकां क्षणं वुधानामपि कुर्वदासीत्॥'
—असग, वर्धमान चरित, १८/८६

महावीर तीर्थंकर के इस दीर्घकालीन मौन के मूल कारण पर समवशरण के व्यवस्थापक सौधर्म इन्द्र ने गम्भीरता से विचार किया, तव अवधिज्ञान से उसे ज्ञात हुआ कि समवशरण में अव तक ऐसा महान् प्रतिभाशाली विद्वान् उपस्थित नहीं हुआ जो कि तीर्थंकर के गूढ़, गम्भीर दिव्य उपदेश को सुनकर उसे अपने हृदय में धारण कर सके और उसको प्रकरणवद्ध करके श्रोताओं की जिज्ञासा का यथार्थ समाधान कर सके, तीर्थंकर का उपदेश सवको समझा सके। इस प्रकार का गणधर वनने योग्य विद्वान् मुनि समवशरण में न होने के कारण तीर्थंकर की वाणी मुखरित न हुई।

तदनन्तर उसने अवधिज्ञान से यह भी जाना कि इस समय इन्द्रभूति गौतम तीर्थंकर का गणधर वनने योग्य विद्वान् है, किन्तु वह तीर्थंकर का श्रद्धालु नहीं है, अतत्त्व-श्रद्धानी है। हाँ, यदि किसी प्रकार वह तीर्थंकर महावीर के सम्पर्क मे आ जावे तो तीर्थंकर का श्रद्धालु भक्त वनकर गणधर वन सकता है।

ऐसा विचार कर इन्द्र ने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप वनाया और वह वेद-वेदांग के ज्ञाता, महान् प्रतिभाशाली विद्वान्, ५०० विद्वान् शिष्यों के गुरू इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा और इन्द्रभूति गौतम से वोला कि——

'मेरे गुरु तीर्थंकर महावीर ने, जो कि सर्वज्ञ हैं, मुझे निम्नलिखित श्लोक सिखाया है, उसका अर्थ भी मुझे वताया था, किन्तु मैं भूल गया हूँ। आप वहुत वड़े विद्वान् हैं कृपा करके उस श्लोक का अर्थ मुझे समझा दीजिये। श्लोक इस प्रकार है——

'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपद सहितं,
जीवषट्काय लेश्याः।
पंचान्ये चास्तिकाया,
व्रतसमितिगतिर्ज्ञानचारित्रभेदाः ॥
इत्येतन्मोक्षमूलं
त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्‌भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्‌धाति स्पृशति च मतिमान्
यः स वै शुद्‌धदृष्टिः'

इन्द्रभूति उस वृद्ध ब्राह्मण के मुख से श्लोक सुनकर विचार में पड़ गया कि छः द्रव्य, नौ पदार्थ, छह काय जीव, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय आदि का मैंने आज तक नाम भी नहीं सुना, वेद-वेदांग* का महान् ज्ञाता मैं हूँ परन्तु 'आर्हत दर्शन' का ज्ञान मुझे नहीं है, तब इसे श्लोक की इन बातों को कैसे समझाऊँ ? किन्तु इसको अपनी अनभिज्ञता बतलाने में मेरा उपहासजनक अपमान है अतः इसके गुरु के साथ शास्त्रार्थ करके अपनी मान-मर्यादा रखना उचित है। ऐसा विचार कर इन्द्रभूति गौतम ने उस वृद्ध ब्राह्मण से कहा-'चल तेरे गुरु के साथ बात करूँगा'।

कपट-रूप धारी 'इन्द्र' यही तो चाहता था, अतः वह मन-ही-मन अपनी सफलता जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और गौतम को झटपट अपने साथ समवशरण में ले आया। समवशरण के निकट पहुँचते ही जैसे ही गौतम ने **मानस्तम्भ** को देखा कि तत्काल उसके हृदय से ज्ञानमद स्वयं दूर हो गया और अभिमानी के बजाय वह नम्र विनयशील बन गया।

समवशरण (धर्म-सभा) में प्रवेशकर जैसे ही उसने तीर्थंकर महावीर का दर्शन किया कि तत्काल उसके हृदय में श्रद्धा जाग उठी। गौतम ब्राह्मण आया तो था वर्द्धमान महावीर से शास्त्रार्थ करने, किन्तु उनके निकट पहुँच कर बन गया उनका परम श्रद्धालु प्रमुख शिष्य। तीर्थंकर महावीर की वीतरागता से वह इतना प्रभावित हुआ कि अपना समस्त परिग्रह त्यागकर वहीं महाव्रती दिगम्बर मुनि बन गया, मुनि बनते ही इन्द्रभूति ब्राह्मण को मनःपर्यय ज्ञान हो गया।

इस घटना के होते ही तीर्थंकर महावीर का मौन भंग हुआ और मेघ-गर्जना के समान दिव्य ध्वनि में उनका उपदेश प्रारम्भ हुआ।

---

* 'गोत्तेण गोदयो विप्पो चाउव्वेयऽसंगवि।
णामेण इंदभूदित्ति सीलवं बम्हणुत्तमो॥' —धवला 1 ग्रं, पृ. 65.

अस्ति किं नास्ति वा जीवस्तत्स्वरूपं निरूप्यताम्।
इत्यप्राक्षमतो मह्यं भगवान् भक्तवत्सलः॥ —उत्तर पु. 74।360.

तीर्थंकर के मौन-भंग का यह शुभ दिवस **श्रावण वदी प्रतिपदा** था। इस तरह केवलज्ञान हो जाने पर **६६ दिन**[१] तक (वैशाख सुदी दशमी से ६ दिन वैशाख के, ३० दिन ज्येष्ठ और ३० आषाढ़ के) तीर्थंकर का उपदेश नहीं हुआ। यह दिन '**वीर शासन उदय**' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जनता ने इसको वर्ष का प्रारम्भ दिन माना। तब से कई शताब्दी तक भारतीय जनता शुभ कार्य का प्रारम्भ इस दिन किया करती थी तथा वर्ष का प्रारम्भ भी श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन मानती रही।

'**सर्वार्द्धमागधीया** भाषा मैत्री च सर्वजनता विषया'–(नंदीश्वर भक्ति–४२)

तीर्थंकर का उपदेश साधारण जनता की भाषा में होता था।[२] प्रत्येक श्रोता उसे सुगमता से समझ लेता था। उस उपदेश में समस्त तात्त्विक बातों का विवेचन था, समस्त जगत् का विवरण था, इतिहास का कथन था, तथा आत्मा के हितकर, अहितकर, संसार-भ्रमण, कर्म-बन्धन, कर्म-मोचन, धर्म, अधर्म, गृहस्थ धर्म, मुनि धर्म, जीव-परिणमन, अजीव-परिणमन, की विशद व्याख्या थी। 'पशुओं को मारकर यज्ञ करना महान् पाप है, उसे धर्म समझना भूल है'—इस विषय को तीर्थंकर महावीर ने अच्छे प्रभावशाली ढंग से समझाया।

वीर-वाणी का प्रभाव

विख्यात ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति जब तीर्थंकर महावीर का अग्रगण्य शिष्य बन गया, तब जनता पर तथा ब्राह्मण विद्वानों पर इसका क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। इन्द्रभूति गौतम के समान ही उसके

---

१ 'दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ?
गणिदाभावादो। सोहम्मिदेण चेव
गणिदो किण्ण दो इदो ? ण,
काललद्धीए विणा असहेज्जस्स
देविदस्स तड्ढोयण सत्तीए अभावादो।'—जय धवला

२ 'बालस्त्री मन्द मूर्खाणां नृणां चारित्र्यकांक्षिणाम्।
प्रतिबोधनाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥'

दो अन्य महान् विद्वान् भ्राता अग्निभूति और वायुभूति भी अपनी शिष्य-मंडली सहित तीर्थंकर महावीर का उपदेश श्रवण करने समवशरण में आये और वे भी महावीर के विनीत शिष्य वनकर गणधर वन गये ।

जव तीर्थंकर महावीर का मर्मस्पर्शी उपदेश जनता ने सुना तो धर्म का सुन्दर सत्य स्वरूप उसे ज्ञात हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पशु-यज्ञ के विरोध में एक व्यापक लहर फैल गई। यज्ञ कराने वाले पुरोहितों के तथा यज्ञ करने वाले यजमानों के हृदय में उल्लेखनीय परिवर्तन आया और वे पशु-यज्ञ के हिंसक कृत्य से घृणा करने लगे।

राजगृही (मगधदेश) का नरेश श्रेणिक (विम्वसार), तीर्थंकर महावीर का उपदेश सुनकर उनका अनुयायी परम भक्त वन गया।

इस तरह श्री वीर प्रभु की वाणी प्रारम्भ से ही अच्छी प्रभावशालिनी सिद्ध हुई।

कुछ दिनों पश्चात् तीर्थंकर महावीर वहाँ से विहार कर गये। वे जहाँ भी ठहरे, वहाँ उनका नवीन समवशरण* (धर्मसभा-मण्डप) वना। वहाँ पर भी उनका कई दिन प्रभावशाली धर्म-उपदेश हुआ, तदनन्तर वहाँ से भी वे विहार कर गये।

श्री महावीर तीर्थंकर ने इच्छारहित होकर भी भव्यजनों के प्रति सहज दया से प्रेरित होकर अथवा उनके प्रवल पुण्ययोग से काशी, कश्मीर, कुरु, मगध, कोसल, कामरूप, कच्छ, कलिंग, कुरुजांगल, किष्किन्धा, मल्लदेश, पाँचाल, केरल, भद्र, चेदि, दशार्ण, वंग, अंग, आन्ध्र, उशीनर, मलय, विदर्भ, गौड़ आदि देशों में धर्म-प्रभावना की, देशनार्थ प्रवचन किया। एतावता अनेक प्रान्तों तथा देशों में तीर्थंकर महावीर का मंगल विहार हुआ और महान् धर्म-प्रचार

---

* 'श्रीसभायां समभ्येत्य श्रीवीरं जिननायकम्।
पूजयामास पूज्योऽयमस्तावीच्च पुनः पुनः॥' —क्षत्र चूडामणि ११/६५

हुआ । उनकी भाषा दिव्य ध्वनिरूपिणी थी, जिसे सभी उपस्थित श्रोता समझते थे । जहाँ-जहाँ तीर्थंकर भगवान विहार करते थे वहाँ-वहाँ धर्मपीयूषपार्तार्थियों को उपदेश प्रदान करते थे ।*

उस धर्म-प्रचार से अहिंसा का प्रभावशाली प्रसार हुआ, पशु-यज्ञ होने सर्वत्र वन्द हो गये । हिंसा कृत्य और माँस-भक्षण से भी जनता घृणा करने लगी । हिंसक लोग तीर्थंकर महावीर का उपदेश सुनकर स्वयं अहिंसक वन गये ।

तीर्थंकर महावीर का जहाँ भी मंगलमय विहार हुआ, वहाँ के शासक, मंत्री, सेनापति, पुरोहित, विद्वान् तथा अन्य साधारणजन उनके अनुयायी भक्त वनते गये । जिस तरह सूर्य के उदय से अन्धकार हटता जाता है उसी तरह तीर्थंकर महावीर के उपदेश से अज्ञान, भ्रम, अधर्म, अन्याय, अत्याचार, हिंसा-कृत्य आदि पापाचार साधारण जन क्षेत्र से दूर होता गया और निरपराध मूक पशु जगत् को संरक्षण मिला ।

---

* 'इच्छाविरहितः सोऽपि भव्यपुण्यदयेरितः ।
विहारमकरोद् देशानार्यान् धर्मोपदेशयन् ।
काश्यां काश्मीरदेशे कुरुषु च मगधे कौशले कामरूपे
कच्छे काले कलिंगे जनपदमहिते जांगलान्ते कुरादौ ।
किष्किन्धे मल्लदेशे मुक्तिजनमनस्तोषदे धर्मवृष्टिं
कुर्वन् शास्ता जिनेन्द्रो विहरति नियतं तं यजेऽहं त्रिकालम् ।।
पांचाले केरले वाऽमृतपदमिहिरोभद्र चेदि दशार्ण—
वंगांगान्ध्रोलिकोशीनर मलयविदर्भेषु गौडे सुमह्ये
शीतांशु रश्मिजालादमृतमिव मर्भा धर्मपीयूषधारा
सिंचन् योगाभिरामः परिणमयति च स्वान्तशुद्धिं जनानाम् ।।'—

—प्रतिष्ठापाठ ८/६ पृ.

'गौतमोऽपि ततो राजन् ? गतः काश्मीरके पुनः ।
महावीरेण दीक्षां च धत्ते जैनमतेप्सिताम्' ।।'

—वैदिक ग्रन्थ श्रीमाल पुराण, अ. ७३ (जैनतत्त्व-प्रकाश)

(गौतम नामक एक ब्राह्मण ने तीर्थंकर महावीर से जैनधर्म की दीक्षा लेकर इच्छित अर्थ को सिद्ध किया ।)

तीर्थंकर महावीर के संघ में ११ गणधर, ७०० केवली, ५०० मन:पर्यय ज्ञानी, १३०० अवधिज्ञानी, नौ सौ विक्रिया-ऋद्धिधारक, चार सौ अनुत्तरवादी, छत्तीस हजार साध्वी (श्रमणा), एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं ।

तीर्थंकर महावीर ने २९ वर्ष, ५ मास, २० दिन तक (ऋषि, मुनि, यति और अनगार) इन चार प्रकार के साधु संघ एवं श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्रविका सहित देश-विदेश में महान् धर्म-प्रचार किया ।[1]

अन्त में वे विहार वन्द करके पावानगर में अनेक सरोवरों के बीच उन्नत भूमि महामणि शिलातले ठहर गये । वहाँ उन्होंने छह दिन योग निरोध करके अन्तिम गुणस्थान प्राप्त किया और शेष अघाति कर्मों का क्षय करके कार्तिक वदी अमावस्या के ब्रह्ममुहूर्त में (सूर्योदय से कुछ पहिले) संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त की ।

परिनिर्वाण-महोत्सव

जब तीर्थंकर महावीर का पावापुरी में निर्वाण हुआ, तब उस रात्रि का अन्तिम अन्धकार था । जैसे ही विभिन्न आसारों से इन्द्र को तीर्थंकर महावीर के मुक्ति-गमन की सूचना मिली, त्यों ही तत्काल देव-परिवार के साथ वह पावा नगर आया । वहाँ उसने असंख्य दीपक जलाकर महान् प्रकाश किया । आगन्तुक देवों ने उच्च मधुर स्वर से तीर्थंकर का बार-बार जयघोष किया, जिससे पावानगर तथा निकटवर्ती स्त्री-पुरुषों को तीर्थंकर के निर्वाण की सूचना मिल गई; अतः समस्त स्त्री-पुरुष दीपक जलाकर उस स्थान पर आये । इस तरह वहाँ असंख्य दीप प्रज्वलित हो गये । मनुष्यों ने तथा देवों ने तीर्थंकर के निर्वाण[2]

---

१ 'वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीस दिवसे य ।
चउविह अणगारेहि य वारहदिणेहि (गणेहि) विहरित्ता ।।'

—ज. धव. खं. पृ. ८१.

२ 'पावापुरस्य वहिरुन्नतभूमिदेशे; पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये ।
श्री वर्धमान जिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा ।।'

—निर्वाण भक्ति २५,

का महान् उत्सव किया। हस्तिपाल राजा मल्लगण राज्य के नायक तथा १८ गण नायकों ने मध्यमा पावा में परिनिर्वाणोत्सव भक्ति-पूर्वक मनाया।

तदनन्तर देवों ने तीर्थंकर का शरीर कपूर, चन्दन की चिता के ऊपर रक्खा। अग्निकुमार देवों ने जैसे ही नमस्कार किया कि उनके मुकुट से अग्निज्वाला प्रकट हो गयी, उससे सुगन्धित द्रव्यों के साथ तीर्थंकर का परम औदारिक शरीर भस्म हो गया। उस भस्म को सबने अपने-अपने मस्तक से लगाया। उसी दिन गौतम गणधर को केवल ज्ञान का उदय हुआ।

तब से समस्त भारत में तीर्थंकर महावीर के स्मरण में प्रतिवर्ष कार्तिक वदी अमावस्या को स्मारक रूप में 'दीपावली महापर्वराज' प्रचलित हुआ, यह दिवस जैनों में बहुत शुभ माना गया है। इस दिन तीर्थंकर महावीर की पूजन होती है, परिनिर्वाण-पूजा होती है, और केवलज्ञान लक्ष्मी की पूजा भी होती है तथा रात्रि के समय दीपक जलाकर हर्षसूचक प्रकाश किया जाता है।*

'तीर्थंकर महावीर भव्य जीवों को उपदेश देते हुए **मध्यमा पावा नगरी** में पधारे, और वहाँ के एक मनोहर उद्यान में चतुर्थ काल में तीन वर्ष, साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर कार्तिक अमावस्या के प्रभातकालीन संध्या के समय योग का निरोध करके कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए। चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से पावानगरी का आकाश **प्रदीपित** हो रहा था। उसी समय से भक्तलोग जिनेश्वर की पूजा करने के लिए भारतवर्ष में

---

* पावापुर वरद वहिर्भूविलसित विततवनके सुरचितमरानां।
पावन वनके जिनेन्द्रं श्रीवीरं मारविजयि विजयंनेयदं ।।'

—आचण्ण कवि, वर्धमानपुराण, १६।६६

प्रतिवर्ष उनके परिनिर्वाण-दिवस के उपलक्ष्य में दीपावली पर्व मनाते हैं।[१]

श्री वीर प्रभु के निर्वाण के स्मारक रूप वीर निर्वाण संवत् प्रारम्भ हुआ है, जो कि प्रचलित सभी संवतों से प्राचीन (२५००) है।

महावीर के नाम पर नगर

तीर्थंकर महावीर की स्मृति में बंगाल-विहार के अनेक नगरों नाम तीर्थंकर के नामानुरूप रक्खे गये। तीर्थंकर के जन्म नाम 'वर्द्ध-मान' पर (वर्दमान), 'वीर' नाम पर 'वीर भूमि' (वीरभूम) तीर्थंकर के चरण चिह्न और ध्वज चिह्न 'सिंह' से 'सिंह भूमि' [सिंहभूम] ['सिंहोऽर्हतां ध्वजाः'[२]—इति हेमचन्द्रः] नगर का नाम अब तक प्रचलित है।

तीर्थङ्कर महावीर और महात्मा बुद्ध

तीर्थंकर महावीर के समय में अन्य कई धर्म-प्रचारक हुए हैं, उनमें कपिलवस्तु के क्षत्रिय राजा शुद्धोधन के पुत्र 'गौतमबुद्ध' अधिक विख्यात हैं। राजकुमार गौतम ने तरुण अवस्था में संसार से विरक्त होकर सब से पहले तीर्थंकर महावीर के पूर्ववर्ती २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की

---

१. "जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य संततं समततो भव्यसमूहसंतति।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैः विहीनताविश्चतुरब्दशेषके
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातींधनवद्विबंधनं
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम्॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया
तदास्म पावानगरी समंततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूति भक्तिभाक्॥'
—हरिवंश पुराण, सर्ग ६६

२. 'सिंहो लांछनान्यर्हतां क्रमात्।'—प्रतिष्ठातिलक ११।३, लांछन स्थापन,

शिष्य-परम्परा के जैन साधु पिहितास्रव[1] से साधु दीक्षा ली। जैन शास्त्रों के अनुसार समस्त वस्त्र त्यागकर वे नग्न हुए और केशलोंच तथा हाथों में भोजन करना आदि जैन साधु का आचरण कुछ दिन तक करते रहे। जब उन्हें जैन साधु की चर्या कठिन प्रतीत हुई, तब उन्होंने गेरुए वस्त्र पहिनकर अपना अलग पन्थ चलाया जिसका नाम मध्यम मार्ग पड़ा।

—"हे सारिपुत्र, मेरे तप की ये क्रियाएँ थीं—मैं निर्वस्त्र रहा, मैंने लोकाचार को त्याग दिया, मैंने हाथों में भोजन लिया, अपने लिये लाया हुआ भोजन नहीं किया, अपने निमित्त से बना भोजन नहीं किया, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया, थाली में भोजन नहीं किया, मकान की ड्योढ़ी (विद इन ए थ्रेशहोल्ड) में भोजन नहीं किया, खिड़की से नहीं लिया, मूसल से कूटने के स्थान पर भोजन नहीं लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलाने वाली से लिया, न भोग करने वाली से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं, न मछली, न माँस, न मदिरा, न सड़ा माँस खाया, न तुस का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन लिया, एक ग्रास भोजन लिया या मैंने दो घर से भोजन लिया, दो ग्रास भोजन लिया। मैंने कभी दिन में एक बार भोजन किया, कभी पन्द्रह दिन में भोजन किया। मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूछों के केशलोंच किये। उस केशलोंच की क्रिया को चालू रखा। मैं एक बूंद पानी पर भी दयालु रहता था। क्षुद्र जीव की हिंसा भी मेरे द्वारा न हो ऐसा मैं सावधान था।[2]

---

१. 'सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहितासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तमुणी॥' —दर्शनसार ६

२. "तत्रास्सु मे इदं सारिपुत्त, तपस्सिताय होति, अचेलको होमि, मुत्ताचारो हत्थापलेखनो, न एहिभद्दन्तिको नतिट्ठभद्दन्तिको, नाभिहितं न उद्दिस्सकतं न निमन्तनं सादियामि, सोत कुम्भिमुखपरिग्गण्हामि, न एलकमन्तरं, न दण्डमन्तरं, न मुसलमन्तरं, न द्विन्नं भुञ्जमानानं, न गब्भिनिया, न पायमानाय, न पुरिसन्तरगताय, न संकित्तीसु, न यत्थ सा उपट्ठितो होति, न यत्थ स उपट्ठितो होति, न यत्थ मक्खिका सण्डसण्डचारिनी, न मच्छं, न मांसं, न सुरं, न मेरयं, न थुसोदकं पिवामि, सो एकागारिको वा होमि एकालोपिको, द्वागारिको वा होमि द्वालोपिको..............पे......सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको परिस्सावि

दत्तिया यापेमि, द्वीहिपि दत्तीहि यापेमि······पे······सत्तहि पि दत्तीहि यापेमि एकाहिकं आहारं आहारेमि, द्वीहिकं पि आहारं आहारेमि······पे······सत्ताहिकं आहारं आहारेमि, इति एव रूपं अद्धमासिकं पि आहारं आहारेमि इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियाय-भत्तं भोजनानुयोग मनुयुत्तो विहरामि।

केसमस्सुलोचको पिहोमि, केसमस्सुलोचनानुयोग मनुयुत्तो, याव उदक बिन्दुम्हि पि मे दया पच्चुपट्ठिता होति-माहं खुद्दके पाणे विसमगते संघातं आपादेस्सं ति।

"सो तत्तो सो सिनो चेव, एको भिसनके वने। नग्गो न चग्गिमासीनो, एसनापसुतो मुनीति॥" —सुत्तपिटके-मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्त, पृ. १०५

"एकमिदाहं महानाम समयं राजगहे विहरामि गिज्झकूटे-पब्बते! तेन खोपन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलिपस्से कालसिलायं उब्भट्ठका होति आसन परिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खातिप्पा कटुका वेदना वेदयंति। अथ खाहं महानाम सायण्ह समयं पटिसल्लाण वुट्ठितो येन इसिगिलि पस्सय काल सिला येन ते निगंठा तेन उप संक-मिस्स उप सकमिता ते निगंठे एतदवोचम:। किन्नु तुम्हे आवुसो निगंठा उब्भट्ठका आसनपट्टिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदिय याति—एवं वुत्तेमहानाम ते निगंठा मं एतदवोचु, निगंठो आवु सो नाठपुत्तो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञानदस्सनं परिजानाति चरतो च तिट्ठतो च सुत्तस्स च सततं समितं ञानदस्सनं पच्चु-पट्ठितंति, सो एवं आह अत्थि खो वो निगंठा पुब्बे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जेरथ यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता, वाचाय संवुता; मनसा संवुता, तं आयति पापस्स कम्मस्स अकरणं, इति पुराणानं कम्मानं तपसा व्यंतिभावा, नवानं अकारण आयति अनवस्सवो, आयति अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति। त च पन अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्ति मनाति।"

—बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय, पृ. १९२-९३.

(महात्मा बुद्ध कहते हैं कि), हे महानाम! मैं एक समय राजगृह के गृहकूट पर्वत पर घूम रहा था, तब ऋषिगिरि के समीप कालशिला पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैनसाधु) आसन छोड़कर उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में लगे हुए थे। मैं सायंकाल उनके पास गया और उनसे बोला, 'भो निर्ग्रन्थो! तुम आसन छोड़कर उपक्रम कर ऐसी कठिन तपस्या की वेदना का अनुभव क्यों कर रहे हो?

जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे साधु इस तरह बोले कि निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे सब कुछ जानते हैं और देखते हैं।

चलते, ठहरते, सोते, जागते सब हालतों में सदा उनका ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है कि निर्ग्रन्थो! तुमने पहिले पाप कर्म किये हैं उनकी इस कठिन तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन काय को रोकने से पाप नहीं बंधता और तप करने से पुराने पाप सब दूर हो जाते हैं। इस तरह नये पापों के न होने से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों के क्षय से दुःखों का क्षय होता है, दुःखों के नाश से वेदना नष्ट होती है और वेदना के नाश से सब दुःख दूर हो जाते हैं (तब बुद्ध कहते हैं) 'यह बात मुझे अच्छी लगती है और मेरे मन को ठीक मालूम होती है।")

□ □

तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध

वास्तव में तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध समदेश, समकाल, एवं सम संस्कृति के दो क्षत्रिय राजकुमार हुए, जिन्होंने आत्म-धर्म और लोकधर्म का २५०० वर्ष पूर्व प्रसार किया।

इन दोनों आत्माओं के जीवन, सिद्धान्त, धर्म आदि का अध्ययन करने में निम्नलिखित तुलनात्मक तथ्य-तालिका बहुत उपयोगी सिद्ध होगी—

		आत्मधर्म प्रकाशक महावीर	लोकधर्म-प्रचारक बुद्ध
१.	नाम	वर्द्धमान	बुद्ध
२.	पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
३.	माता	त्रिशला	महामाया
४.	गोत्र	कश्यप	कश्यप
५.	ग्राम	कुण्डग्राम (वैशाली)	कपिलवस्तु (लुम्बिनी)
६.	वंश	ज्ञातृ	शाक्य
७.	जाति	क्षत्रिय	क्षत्रिय
८.	जन्म	ई. पू. ५९९	ई. पू. ५८२
९.	धर्म	अर्हन्त	आर्हत*
१०.	ज्ञान-प्राप्ति-स्थान	ऋजुकूलातट	गया
११.	निर्वाण	ई. पू. ५२७	ई. पू. ५०२
१२.	निर्वाण-स्थान	पावापुरी	कुशीनार
१३.	आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
१४.	व्रत	पंच महाव्रत	पंचशील
१५.	सिद्धान्त	स्याद्वाद	क्षणिकवाद

---

* महात्मा बुद्ध ने कहा था—'भिक्षुओ ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि प्राचीनकाल के अरहन्तों द्वारा आचरण किया गया था। मैं उसी पर चला और चलते हुए मुझे कई तत्त्वों का रहस्य मिला। भिक्षुओ, प्राचीनकाल में जो भी अर्हन्त तथा बुद्ध हुए थे उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे, जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्र मोग्गलायन थे।'

(संयु, १६४)

"जैन साधना जहां एक ओर बौद्धसाधना का उद्गम है, वहां दूसरी ओर यह वैष्णवमार्ग का भी आदिस्रोत है।"—संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह 'दिनकर'; पृ. ४३८.

महावीर-निर्वाण संवत्

भगवान महावीर का निर्वाण कब हुआ, इस संबंध में जैनों में गणना की एक अभेद्य परम्परा विद्यमान है और वह श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों में समान ही है। "तित्थोगालीपयन्ना" में निर्वाण काल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'जं रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो ।
तं रयणिभवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥६२०॥
पालग रण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणम् ।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूस मित्ताणं (त्तस्स) ॥६२१॥
बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ताय होंति नहसेणे ।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया ॥६२२॥
पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया ।
परिनिव्वु अस्सऽरिहतो, तो उत्पन्नो (पडिवन्नो) सगोराया ॥६२३॥'

(जिस रात में अर्हन् महावीर तीर्थंकर का निर्वाण हुआ, उसी रात (दिन) में अवन्ति में पालक का राज्याभिषेक हुआ।

६० वर्ष पालक के, १५० नन्दों के, १६० मौर्यों के, ३५ पुष्यमित्र के, ६० बलमित्र-भानुमित्र के, ४० नभःसेन के और १०० वर्ष गर्दःभिल्लों के बीतने पर शक राजा का शासन हुआ।

अर्हन् महावीर को निर्वाण हुए ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ।)

यही गणना अन्य जैन-ग्रन्थों में भी मिलती है। हम उनमें से कुछ नीचे दे रहे हैं—

(१) श्री वीर निर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः ।
शाक संवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

—मेरुतुंगाचार्य रचित 'विचार-श्रेणी' (जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २, अंक ३-४ पृ. ४)

(२) छहिं वासाण सएहिं पंचहिं वासेहिं पंच मासेहिं ।
मम निव्वाण गयस्स उ उपज्जिस्सइ सगो राया ॥

—नेमिचन्द्र रचित 'महावीर चरियं' श्लोक २१६९, पत्र ९४-१।

६०५ वर्ष ५ मास का यही अंतर दिगम्वरों में भी मान्य है। हम यहाँ तत्संबंधी कुछ प्रमाण दे रहे हैं—

(१) पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गीमय वीरणिव्वुइदो ।
सगराजो तो कक्की चदुणव तियमहिय सग मासम् ॥८५०॥
—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित 'त्रिलोकसार'

(२) वर्षाणां षट्शतीं त्यक्तवा पंचाग्रां मास पंचकम् ।
मुक्तिगते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥६०-५४९॥
—जिनसेनाचार्य रचित 'हरिवंशपुराण'।

(३) णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेसु पंचविरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥
—'तिलोयपण्णत्ति,' भाग १ पृष्ठ ३४९॥

(४) पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया ।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो वदो रासी ॥
—धवला (जैन सि. भवन आरा), पत्र ५३७

वर्तमान ईस्वी सन् १९७३ में शक संवत् १८९४ है। इस प्रकार ईस्वी सन् और शक संवत्सर में ७९ वर्ष का अन्तर हुआ। भगवान महावीर का निर्वाण शक संवत् से ६०५ वर्ष ५ मास पूर्व हुआ। इस प्रकार ६०६ में से ७९ घटा देने पर महावीर का निर्वाण ईसवी पूर्व ५२७ में सिद्ध होता है।

केवल शक संवत् से ही नहीं, विक्रम संवत् से भी महावीर निर्वाण का अन्तर जैन साहित्य में वर्णित है।

'तपागच्छ पट्टावलि' में पाठ आता है—

"जं रयणि कालगओ, अरिहा तित्थंकरो महावीरो ।
तं रयणि अवणिवई, अहिसित्तो पालओ राया ॥१॥
सट्ठी पालयरण्णो ६०, पणवण्णसयं तु होइ नंदाणं ।१५५
अट्ठसयं मुरियाणं १०८, तीसच्चिय पूलमित्तस्स ३० ॥२॥
वलभित्त भाणुमित्त सट्ठी ६०, वरिसाणि चत्तनहवाणे ४००
तह गद्धभिल्लरज्जं तेरस १३ वरिस सगस्स चउवरिसा ॥३॥'—

श्री विक्रमादित्यश्च प्रतिवोधितस्तद्राज्यं तु श्री वीर सप्तति: चतुष्टये ४७० संजातं ।"

[६० वर्ष पालक राजा, १५५ वर्ष नवनन्द, १०८ वर्ष मौर्य वंश, ३० वर्ष पुष्यमित्र, बलमित्र भानुमित्र ६०, नहपान ४० वर्ष। गर्दभिल्ल १३ वर्ष, शक ४ वर्ष कुल मिलाकर ४७० वर्ष (इन्होंने विक्रमादित्य राजा को प्रतिबोधित किया) जिसका राज्य वीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद हुआ।] 'तीर्थंकर महावीर' विजयेन्द्रसूरि, पृ० ३१९

ईसापूर्व ५२७ वर्ष भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् दिगम्बर आम्नायानुसार केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वधरों की सूची (*)

केवली—३

१.	गौतम गणधर	१२ वर्ष
२.	सुधर्मा	१२ वर्ष
३.	जम्बूस्वामी	३८ वर्ष

श्रुत केवली—५

१.	विष्णुनन्दी	१४ वर्ष
२.	नन्दिमित्र	१६ वर्ष
३.	अपराजित	२२ वर्ष
४.	गोवर्धन	१९ वर्ष
५.	भद्रबाहु	२९ वर्ष
		१६२ वर्ष

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात् श्रुतकेवली का लोप माना गया है—(ई. पू. ३६५)

एकादशगणधराः—

'इन्द्रभूतिरग्निभूतिर्वायुभूतिः सुधर्मकः।
मौर्यमौन्द्यौ पुत्रमित्रावकम्पनसुनामधृक्॥
अन्धवेलः प्रभासश्च रुद्रसंख्यान् मुनीन यजे।
गौतमं च सुधर्मं च जम्बूस्वामिनमूर्ध्वगम्॥
श्रुतकेवलिनोऽन्यांश्च विष्णुनन्द्यपराजितान्।
गोवर्धनं भद्रबाहुं दशपूर्वधरं यजे॥'

—आचार्य जयसेन प्रतिष्ठापाठ

दशपूर्वधर--11

१.	विशाखाचार्य	१० वर्ष
२.	प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
३.	क्षत्रिय	१७ वर्ष
४.	जयसेन	२२ वर्ष
५.	नागसेन	१८ वर्ष
६.	सिद्धार्थ	१७ वर्ष
७.	धृतिषेण	१८ वर्ष
८.	विजय	१३ वर्ष
९.	वुद्धिवल्ल	२० वर्ष
१०.	गंगदेव	१४ वर्ष
११.	धर्मसेन	१६ वर्ष
		१८४ वर्ष

"चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्
सर्वसंघाधिपो जातो विशाखाचार्यसंज्ञकः॥'

—हरिषेण रचित, कथाकोष 39.

दशपूर्वधरों में प्रथम चन्द्रगुप्त-मुनि शीघ्र ही विशाखाचार्य नाम से सर्वसंघ के अधिपति हुए।

'विशाखप्रोष्ठिल क्षत्रीयजय नाग पुरस्सरान्।
सिद्धार्थधृतिषेणाह्वौ विजयं बुद्धिवलं तथा॥
गंगदेवं धर्मसेनमेकादश तु सुश्रुतान्।'—

एकादशांगधारी

१.	आचार्य नक्षत्र	२२० वर्ष
२.	आचार्य जसपाल (जयपाल)	
३.	आचार्य पाण्डु	
४.	आचार्य ध्रुवसेन	
५.	कंसाचार्य	

आचारांगधारी

१.	आचार्य सुभद्र	११८ वर्ष
२.	आचार्य यशोभद्र	
३.	आचर्य यशोबाहु	
४.	आचार्य लोहाचार्य	
	सम्पूर्ण वर्ष योग	६८४ वर्ष

प्रभावक आचार्य—

१. आचार्य गुणधर (कषायपाहुड)—विक्रम सं. १६.
२. आचार्य कुन्दकुन्द (समयसार)—विक्रम सं. ३२.
३. आचार्य उमास्वामी (तत्वार्थसूत्र)—विक्रम सं. १५०
४. आचार्य समन्त भद्र (रत्नकरण्ड)—(विक्रम सं. तीसरी शती)
५. आचार्य सिद्धसेन (सन्मतिसूत्र)—(विक्रम सं. पांचवीं शती)

'नक्षत्रं जयपालाख्यं पाण्डुंच ध्रुवसेनकम्।
कंसाचार्यं पुरोङ्गीय ज्ञातारं प्रयजेऽन्वहम्।।
सुभद्रंच यशोभद्रं यशोबाहुं मुनीश्वरम्।
लोहाचार्यं पुरा पूर्वज्ञानचक्रधरं नुमः।।'

अनेकान्त

जीव और अजीव : अनन्तानन्त

इस जगत् में अनन्तानन्त चेतन पदार्थ (जीव) हैं और अनन्तानन्त जड़ (अजीव) पदार्थ हैं, उनमें से प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणों (शक्तियों) तथा अनंत विशेषताओं का पुंज है। सूक्ष्म परमाणु (एटम) में भी अनंत शक्तियाँ निहित हैं। परमाणु की शक्ति से विशाल नगरों का विध्वंस क्षण-भर में किया जा सकता है और विशाल परिमाण में विद्युत् (विजली) उत्पन्न करने वाले विजलीघर का संचालन किया जा सकता है, भीमकाय जल-यान (पानी के जहाज, पनडुब्बी, नाव आदि) परमाणु की शक्ति से चलाये जा सकते हैं। एक परमाणु में जव इस प्रकार की विध्वंस, निर्माण, संचालन, प्रेरण-रूप असीम शक्तियाँ तथा विशेषताएँ सिद्ध होती हैं, तव अन्य विशाल जड़-चेतन पदार्थों के गुणों और विशेषताओं का भी इससे अनुमान लगाया जा सकता है।

अग्नि लकड़ी को जलाकर भस्म करती है, सोने को गलाकर शुद्ध करती है, रोटी को पकाती है, दाल को गलाती है, जल को भाप वनाती है, अशुद्ध धातु-पात्रों को शुद्ध करती है, शीत को दूर करती है, प्रकाश प्रदान करती है, इत्यादि अनन्त प्रकार की विशेषताएँ अग्नि में विद्यमान हैं।

ऐसी ही अनन्त शक्तियाँ, गुण या विशेषताएं जल, वायु तथा पार्थिव पदार्थों में विद्यमान हैं। ये भौतिक (पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य) पदार्थ उन परमाणुओं के सम्वद्ध समुदाय से वना करते हैं, जिनकी शक्ति परमाणु-वम, परमाणु-विजलीघर आदि के रूप में पहले वतलाई जा चुकी है।

अमूर्तिक जड़ पदार्थ

पौद्गलिक (मटीरियल) जड़ पदार्थों के सिवाय अमूर्तिक (नॉन-मटीरियल) जड़ पदार्थ और भी हैं, जिनको धर्म (ईथर) (क्रियाशील अनन्त पदार्थों की हलन-चलन रूप क्रिया में सहायक), अधर्म (स्थिति-शील अनन्त पदार्थों की स्थिति में सहायक), आकाश (समस्त पदार्थों के लिए स्थान-दाता), काल (समस्त अनन्त पदार्थों के प्रतिक्षणवर्ती परिणमन में सहायक) नाम से कहा जाता है। उन अमूर्तिक जड़ पदार्थों में से प्रत्येक में भी परमाणु या भौतिक पदार्थों के समान अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिससे कि इस जगत् का ढाँचा सूक्ष्म रूप से विविध परिणमन कर रहा है। स्थूल दृष्टि से विचार-शक्ति भले ही सहसा उसे न जान सके, किन्तु सूक्ष्म विचार से तो उनको जाना ही जाता है।

चेतन पदार्थ की अनन्तानन्तता

जड़ पदार्थों के समान चेतन पदार्थ (जीव) भी संख्या में अनन्तानन्त हैं और प्रत्येक चेतन पदार्थ भी, वह चाहे छोटा प्रतीत हो या बड़ा, अनन्त शक्तियों का पुंज है। ज्ञान-दर्शन, सुख, बल, श्रद्धा, समता, क्षमता, मृदुता आदि अनन्त प्रकार के गुण या शक्तियाँ तथा विशेषताएँ प्रत्येक जीव में विद्यमान (मौजूद) है।

अर्थात् जगत् का कोई भी **पदार्थ** क्यों न हो वह **अनन्त गुणात्मक** है। उन अनन्त गुणों का परिणमन भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। उन विभिन्न विशेषताओं को जब विभिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से जाना जाता है तब प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप में प्रतीत होता है।

जल किसी प्यासे मनुष्य की प्यास बुझाकर उसे जीवन देता है और किसी प्यासे (हैजे के रोगी) को प्यास बुझाकर मार देता है, स्नान के रूप में स्वस्थ मनुष्य को जल स्फूर्ति और आनन्द प्रदान करता है; दाह ज्वर वाले मनुष्य को वही जल-स्नान सन्निपात लाकर मृत्यु

के निकट पहुँचा देता है। इस तरह जल जीवन-दाता अमृत-रूप भी है, और मारक विप-रूप भी है।

दूध शरीर के लिए सर्वोत्तम पोपक पदार्थ है, तत्काल के उत्पन्न वालक, शिशु का जीवन तो दूध पर ही निर्भर है। किशोर, यौवन, प्रौढ़, वृद्ध अवस्थाओं में भी दूध शरीर का अच्छा पोपण करता है, इसी कारण दूध को अमृत भी कहा जाता है; परन्तु यही दूध यदि अतिसार (दस्त) के रोगी को दिया जाए तो उसके लिए विप जैसा हानिकारक सिद्ध होगा।

ऐसे ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की प्रतीत होने वाली अनेक प्रकार की विशेषताएँ प्रत्येक पदार्थ में एक साथ होती हैं, जैसे-राम राजा दशरथ के पुत्र थे, किन्तु लवणांकुश (लव-कुश) के पिता थे, लक्ष्मण के भाई थे, सीता के पति थे, जनक के जामाता (दामाद) थे, भामण्डल के वहनोई थे। इस तरह एक ही राम पुत्र, पिता, भाई, पति, दामाद, वहनोई आदि अनेक रूप थे। इसी प्रकार प्राय: अन्य प्रत्येक मनुष्य भी पिता, पुत्र, वावा, पोता, पति, पुत्र, श्वसुर, जमाई, साला, वहनोई आदि अनेक सम्वन्धोंका समुदाय होता है।

इन अनेक प्रकार की विशेपताओं के कारण ही प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (**अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः**) रूप में पाया जाता है, जो (धर्म) विशेपताएँ परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होती हैं (जैसे जो पुत्र है, वह पिता कैसे हो सकता है, जो साला है, वह वहनोई कैसे हो सकता है, जो पति है, वह पुत्र कैसे हो सकता है इत्यादि) वे ही विशेषताएँ एक ही पदार्थ में ठीक सही तौर पर पायी जाती हैं। पदार्थ की इस अनेक–रूपता (धर्मात्मकता) को प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त **अनेकान्तवाद** कहलाता है।

यदि हम **हाथी** का चित्र पीछे की ओर से लें, तो उसमें पिछले पैर और पूंछ ही दिखाई देंगे, और यदि सामने से फोटो खींचें तो उसकी सूंड, दाँत, आँख, कान, मुख, अगले पैर चित्र में आवेंगे, और

यदि इसे ही दाँयी ओर से खींचा गया तो वह अन्य ढंग का होगा। इसी तरह वायीं ओर कैमरा रखकर फोटो खींचने से हाथी का चित्र पहिले तीन चित्रों से विलक्षण होगा। इस तरह एक ही हाथी के ये चित्र भिन्न-भिन्न दिशा और कोणों से भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे। यद्यपि ये सभी एक दूसरे से विलक्षण हैं, तथापि हैं सब वास्तविक और एक ही हाथी के।

तर्जनी (अंगूठे के पड़ोस की अँगुली) वड़ी भी है, क्योंकि अँगूठे से तथा कनिष्ठा (पाँचवीं; सवसे छोटी अँगुली) से लम्वाई में वह वड़ी है, परन्तु मध्यमा (वीच की अँगुली) से वह छोटी भी है। इस तरह उसका छोटा और वड़ा होना उस एक ही तर्जनी में पाया जाता है। यह विरोधी है तथापि सापेक्ष होने से सही, संगत और संतुलित है।

हमारा भारत देश हिन्द महासागर से उत्तर दिशा में है, हिमालय से दक्षिण में है, अरव देश से पूर्व में है और ब्रह्म देश (वर्मा) से पश्चिम में है। आकाश से नीचे की ओर है और पाताल से ऊपर की ओर है। इस तरह एक ही भारत देश इन छह दिशाओं से छह तरह का है, छह तरह से कहा तथा माना जाता है; ये छहों वातें परस्पर-विरोधी हैं, तथापि विल्कुल ठीक हैं।

पाँच वर्ष का वच्चा अपने तीस वर्ष के पिता से छोटा भी है, क्योंकि उसका शरीर छोटा है, शरीर निर्वल है, वुद्धि अल्प है; परन्तु वही पाँच वर्ष का वच्चा अपनी दो वर्ष की वहन से वड़ा भी है। और वास्तव में आयु की अपेक्षा देखा जाए तो वह पाँच वर्ष का वच्चा अपने ६५ वर्ष के वावा (दादा) से ६० वर्ष तथा अपने पिता से ३० वर्ष वड़ा है, क्योंकि उसके वावा ने अपनी आयु के ६५ वर्ष समाप्त कर दिये हैं जवकि उस वच्चे ने अभी केवल पाँच वर्ष ही विताये हैं। उसका पिता अपने जीवन के ३० वर्ष विता चुका जवकि उस वच्चे के अभी पाँच वर्ष ही बीते हैं। यदि तीनों की आयु ८०-८० वर्ष हो तो उसका वावा केवल १५ वर्ष और जियेगा, उसका पिता

५० वर्ष और जीवित रहेगा तथा वह वच्चा (वावा और पिता से अधिक) ७५ वर्ष और जीवित रहेगा; किन्तु उसकी दो वर्ष की छोटी वहन ७८ वर्ष जियेगी, इस कारण वह अपने भाई से तीन वर्ष वड़ी है। इस तरह पाँच वर्ष का यह एक ही वच्चा अपने वावा, पिता और दो वर्ष वाली वहन से छोटा भी है और वड़ा भी। उसका यह छोटा होना न कल्पित है, न उसका वड़ा होना अनुमानित है; दोनों ही कथन यथार्थ हैं, वास्तविक हैं; सापेक्ष हैं।

इस तरह किसी पदार्थ के स्वरूप की छानवीन की जाए तो वह अनेक धर्मात्मक (अनेक रूप का) सिद्ध होता है, एक धर्म रूप ही प्रमाणित नहीं होता; इसलिए जगत् के समस्त पदार्थ अनेकान्त रूप हैं, एकान्त (एक ही रूप) रूप कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल विचार से अनेकान्तवाद, यानी अनेकान्त का सिद्धान्त यथार्थ, अकाट्य, और तर्कसंगत सिद्ध होता है।

जव हम कहते हैं कि 'आत्मा नित्य है', तव हमारा दृष्टिकोण (पाइंट ऑफ व्यू) मौलिक आत्म-द्रव्य पर होता है, क्योंकि आत्मा अभौतिक द्रव्य है, अत: वह न तो अस्त्र-शस्त्रों से छिन्न-भिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है; न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। वह अनादि काल से अनन्त काल तक वना रहता है।

परन्तु जव हम सांसारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव-दशा) का विचार करते हैं तो आत्मा अनित्य सिद्ध होता है; क्योंकि आत्मा कभी मनुष्य-भव में होता है, कभी मरकर पशु-पक्षी आदि हो जाता है। इस तरह एक ही आत्मा में नित्यता भी है और अनित्यता भी। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है—

'एकेनाकर्षन्ती, श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी' ॥225॥

(जिस तरह दही को मथकर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है; इसी तरह जैन-पदार्थ-निर्णय-पद्धति (अनेकान्त-वाद) पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्य करती है, तो दूसरे को गौण (अमुख्य) कर देती है, उसे सर्वथा छोड़ नहीं देती।)

इस प्रकार अनन्त धर्मात्मक पदार्थों के किसी धर्म को मुख्य और अन्य धर्म को गौण करके विचार करने से तत्व का ठीक-ठीक निर्णय होता है। □□

सप्तभंगी

> 'जो तच्च मणेयन्तं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
> लोयाण पण्ह वसदो ववहार पवत्तणट्ठं च ।।'
>
> —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।।३११।।

(जो लोक प्रश्न–वश तथा व्यवहार-सम्पादनार्थ अनेकान्त का श्रद्धान सप्तभंगी द्वारा नियम से करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।)

समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से सत्स्वरूप हैं और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षया असत् स्वरूप हैं । यदि ऐसा अपेक्षया स्वीकार न किया जाए तो किसी इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती—

> 'स्यादस्ति स्वचतुष्टयादिरतः स्यान्नास्त्यपेक्षाक्रमात्,
> तत्स्यादस्ति च नास्ति चेति युगपत् सा स्यादवक्तव्यता ।
> तद्वत् स्यात् पृथगस्ति नास्ति युगपत् स्यादस्तिनास्त्याहिते,
> वक्तव्ये गुणमुख्य भावनियतः स्यात् सप्तभंगी विधिः ।।
>
> —श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्रम् ।।१०।।

(स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्य-वक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य–ये सात भंग हैं । वक्तव्य में गौण और मुख्य भाव नियत करने वाली यह 'सप्तभंग' विधि है ।)

भंग शब्द के भाग, लहर, प्रकार, विघ्न आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यह 'भंग' शब्द प्रकारवाची लिया है; तदनुसार वचन के भंग सात प्रकार के हो सकते हैं, उससे अधिक नहीं क्योंकि आठवीं तरह का कोई वचन-भंग नहीं होता और सात से कम मानने से कोई-न-कोई वचन-भंग छूट जाता है ।*

---

* 'सप्तधैव तत्सन्देह समुत्पादात् । –स्याद्वादसिद्धिः ।।
(किसी भी पदार्थ के विषय में सन्देह की उत्पत्ति सात प्रकार से ही हो सकती है ।)

इसका कारण यह है कि किसी भी पदार्थ के विषय में जो भी बात कही जाती है, वह मौलिक रूप से तीन प्रकार की होती है (या हो सकती है)—१. 'है' (अस्ति) के रूप में; २. 'नहीं' (नास्ति) के रूप में; ३. न कह सकने योग्य (अवक्तव्य) के रूप में।

इन तीन मूल अंगों को परस्पर मिलाकर तीन युगल (द्वि-संयोगी) रूप होते हैं—१. 'है' और 'नहीं' (अस्ति-नास्ति) रूप; २. 'है' और 'न कह सकने योग्य' (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)।

इस तरह **वचन-भंग** सात तरह के हैं, इन सातों भंगों के समुदाय को (सप्तानां भङ्गानां समुदायः सप्तभंगी) **'सप्तभंगी'** कहते हैं।

(१) प्रत्येक वस्तु अपने (विवक्षित-कहने के लिए इष्ट) दृष्टि-कोण (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षा 'अस्ति' (मौजूद) रूप होती है; जैसे—राम अपने पिता दशरथ की अपेक्षा 'पुत्र' है।

(२) प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं की या अन्य (अविवक्षित) दृष्टिकोणों की अपेक्षा अभाव (नास्तित्व) रूप होती हैं; जैसे—राम राजा जनक (की अपेक्षा) के पुत्र नहीं हैं।

(३) दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशः कहने पर वस्तु अस्तित्व तथा अभाव (अस्ति-नास्ति) रूप होती है; जैसे—राम दशरथ के पुत्र हैं, जनक के पुत्र नहीं हैं।

(४) परस्पर-विरोधी ('है' तथा 'नहीं' रूप) दोनों दृष्टिकोणों से एक साथ (युगपद्) वस्तु 'वचन द्वारा कही नहीं जा सकती' क्योंकि वैसा वाचक (कहने वाला) कोई शब्द नहीं है। अतः उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होती है; जैसे—राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की युगपद् (एक साथ एक शब्द द्वारा) अपेक्षा कुछ नहीं कहे जा सकते।

(५) वस्तु 'न कह सकने योग्य' (युगपद् कहने की अपेक्षा अवक्तव्य) होते हुए भी अपने दृष्टिकोण से होती तो है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य) जैसे—राम यद्यपि दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) हैं फिर भी राजा दशरथ की अपेक्षा पुत्र है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य)।

(६) वस्तु अवक्तव्य (युगपद् कहने की अपेक्षा) होते हुए भी अन्य दृष्टिकोण से नहीं रूप (स्यात् नास्ति-अवक्तव्य) है; जैसे—राम दशरथ तथा जनक की युगपद् अपेक्षा पुत्र नहीं हैं, (स्यात् नास्ति अवक्तव्य)।

(७) परस्पर विरोधी (है और नहीं रूप) दृष्टिकोणों से युगपद् (एक साथ एक ही शब्द द्वारा) अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होते हुए भी वस्तु क्रमशः उन परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों से है, नहीं (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) रूप होती है; जैसे—राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की अपेक्षा युगपद् रूप से कुछ भी नहीं कहे जा सकते (अवक्तव्य हैं) किन्तु युगपद् अपेक्षया अवक्तव्य होकर भी क्रमशः राम राजा दशरथ के पुत्र हैं, राजा जनक के पुत्र नहीं हैं।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रत्येक पदार्थ के विषय में लागू होती है। सप्तभङ्गी के लागू होने के विषय में मूल वात यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अनुयोगी (अस्तित्व-रूप) और प्रतियोगी (अभावरूप-नास्तित्व रूप) धर्म पाये जाते हैं तथा अनुयोगी-प्रतियोगी धर्मों को युगपद् (एक साथ) किसी भी शब्द द्वारा न कह सकने योग्य रूप अवक्तव्य धर्म भी प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। अनुयोगी, प्रतियोगी और अवक्तव्य इन तीनों धर्मों के एक संयोगी (अकेले-अकेले) तीन भंग होते हैं तथा तीनों का मिलकर त्रि-संयोगी भंग एक होता है। इस तरह सव मिलाकर सात भंग हो जाते हैं।

आचार्य कहते हैं—'**अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः**'—सप्तविध वाक् अक्षरों द्वारा व्यक्त है। यहाँ प्रथमा, द्वितीयादि सप्त विभक्तियाँ ही ज्ञातव्य नहीं हैं, अपितु वाक् की सप्तभंगिमाएँ भी व्याख्यात हुई है। 'सप्त व्याहृति' वाणी को सप्तविध—संख्यान ही होना चाहिये। नहीं तो कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादन, सम्वन्ध, अधिकरण आदि कारक कैसे सिद्ध कर सकोगे; इसलिए सप्त-विध भंग ही शब्द-शास्त्र से एवं वाणी से कथन करना सम्भव है। संगीत के स्वर और रवि, सोम, मंगल आदि भी तो सात हैं, सात संख्या महत्त्वपूर्ण है।

स्याद्वाद

'स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते ।
अहिंसायाः प्रधानत्वं, जैनधर्मः स उच्यते ।।

जानने और कहने में बहुत भारी अन्तर है, क्योंकि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नहीं जा सकता । इसका कारण यह है कि जितने ज्ञान के अंश हैं, उन ज्ञान-अंशों के वाचक न तो उतने शब्द ही हैं और न ही उन सब ज्ञान-अंशों को कह डालने की शक्ति जीभ (रसना) में है।

सामान्य दृष्टान्त है कि हम अंगूर, आम, अनार खाकर उनकी मिठास के अन्तर (मिष्ठता) को यथार्थतः पृथक्-पृथक् नहीं कह सकते। किसी भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ के छूने, सूंघने, देखने, सुनने में जो आनन्द या दुःख होता है, कोई भी मनुष्य उसे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ठीक उसी रूप में मुख द्वारा कह नहीं सकता । परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) होने वाले विद्यार्थी को अपना परीक्षाफल जानकर जो हर्ष हुआ, उस हर्ष को हजार यत्न करने पर भी वह ज्यों-का-त्यों कह नहीं सकता। गठियावात के रोगी को गठियावात की जो पीड़ा होती है, उसे वह शब्दों में नहीं बतला सकता।

इस तरह एक तो जानने और कहने में यह एक बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे जितना विषय एक समय में जाना जाता है यदि उसे मोटे रूप से भी कहना चाहें तो उसके कहने में जानने की अपेक्षा समय बहुत अधिक लगता है । किसी सुन्दर उद्यान का एक दृश्य देखकर जो उस बगीचे के विषय में एक ही मिनट में ज्ञान हुआ, उस सब को कहने में अनेक मिनट ही नहीं अपितु अनेक घंटे लग जाएंगे; क्योंकि जिन सब बातों को नेत्रों ने एक मिनट में जान लिया है, उनको जीभ (युगपद्)

एक साथ कह नहीं सकती। उन बातों को क्रम से एक-एक करके कहा जा सकेगा।

इसी कारण प्राचीन ग्रंथकारों ने लिखा है कि सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा जितना त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती पदार्थों को युगपद् (सम-सामयिक) जानता है, उसका अनन्तवाँ भाग विषय उसकी वाणी से प्रगट होता है। जितना दिव्य-ध्वनि से प्रगट होता है उसका अनन्तवाँ भाग चार ज्ञानधारक गणधर अपने हृदय में धारण कर पाते हैं। जितना विषय धारण कर पाते हैं तथा उसका अनन्तवाँ भाग शास्त्रों में लिखा जाता है।

इस प्रकार जानने और उस जाने हुए विषय को कहने में महान् अन्तर है। एक साथ जानी हुई बात को ठीक उसी रूप में एक साथ कह सकना असम्भव है।

अत: जिस पदार्थ के विषय में कुछ कहा जाता है तो एक समय में उसकी एक ही बात कही जाती है, उस समय उसकी अन्य बातें कहने से छूट जाती हैं; किन्तु वे अन्य बातें उसमें होती अवश्य हैं। जैसे कि जब यह कहा जाए कि 'राम राजा दशरथ के पुत्र थे'।

उस समय राम के साथ लगे हुए सीता, लक्ष्मण, लव-कुश आदि अन्य व्यक्तियों के पति, भ्राता, पिता आदि के सम्बन्ध कहने से छूट जाते हैं, जो कि यथार्थ हैं। यदि उन छूटे हुए सम्बन्धों का अपलाप कर लिया जाए (सर्वथा छोड़ दिया जाए) तो राम-सम्बन्धी परिचय (जानकारी) अधूरा रह जाएगा और इसी कारण वह कहना गलत (अयथार्थ) प्रमाणित (साबित) होगा। इस गलती या अधूरेपन को हटाने के लिए जैनधर्म-सिद्धान्त ने प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द लगाने का निर्णय दिया है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथंचित्' यानी 'किसी—दृष्टिकोण से' या 'किसी अपेक्षा से' है। अर्थात् जो बात कही जा रही है, वह किसी एक अपेक्षा से (किसी एक दृष्टिकोण से) कही जा रही है, जिसका

अभिप्राय यह प्रगट होता है कि यह विषय अन्य दृष्टिकोणों से या अन्य अपेक्षाओं से अन्य अनेक प्रकार भी कहा जा सकता है।

तदनुसार राम के विषय में यों कहेंगे—स्यात् (राजा दशरथ की अपेक्षा) राम पुत्र हैं। 'स्यात्' (सीता की अपेक्षा) राम 'पति' हैं। स्यात् (लक्ष्मण की अपेक्षा) राम 'भ्राता-भाई' हैं।

स्यात् (लवांकुश की अपेक्षा) राम 'पिता' हैं।

स्यात् (राजा जनक की अपेक्षा) राम 'जामाता' (दामाद) हैं।

इस तरह 'स्यात्' शब्द लगाने से उस बड़ी भारी त्रुटि (गलती), उपर्युक्त पाँच बातों में से एक ही बात कहने पर होती है, का सम्यक् परिहार हो जाता है।

यानी—राम 'पुत्र' तो हैं, किन्तु वे सर्वथा (हर तरह से) पुत्र ही नहीं हैं, वे पति, भाई, पिता, दामाद आदि भी तो हैं। हाँ, वे राजा दशरथ की अपेक्षा से पुत्र ही हैं। इस 'अपेक्षा' शब्द से उसके अन्य दूसरे पति, भाई, पिता, दामाद आदि सम्बन्ध सुरक्षित रहे आते हैं।

स्यात् भारत (हिमालय की अपेक्षा) दक्षिण में है।

इससे यही ध्वनि निकलती है कि भारत देश सर्वथा (हर एक तरह से सर्वथा) दक्षिण में ही नहीं है, अपितु अन्य दृष्टिकोणों से अन्य दिशाओं में भी है।

तदनुसार—'स्यात् (पर्याय की अपेक्षा—मनुष्य, पशु आदि नश्वर शरीरों की दृष्टि से) जीव अनित्य है'। इस सत्य बात की भी रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार 'स्यात्' निपात के संयोग से संसार के सभी सैद्धान्तिक विवाद शान्त हो जाते हैं और पूर्ण सत्य का ज्ञान हो जाता है।

किसी भवन के चारों ओर खड़े होकर चार फोटोग्राफर यदि उस भवन के फोटो लें, तो उस एक ही भवन के चारों फोटो चार

विभिन्न (अलग-अलग) तरह के होंगे । यदि ये चारों अपने-अपने फोटों को ठीक बताकर परस्पर झगड़ने लगें कि 'मेरा फोटो ठीक है, तुम तीनों के फोटो गलत हैं' तो उस विवाद का यथार्थ तथा चारों फोटोग्राफरों के लिए संतोषजनक निर्णय (फैसला) 'स्यात्' कोई एक (इष्ट) दृष्टिकोण कर सकता है । तदनुसार निर्णय दिया जाएगा कि—

'स्यात्' (सामने की अपेक्षा) इस (भवन के सामने खड़े होकर खींचने वाले) फोटोग्राफर का फोटो ठीक है । 'स्यात्' (पीछे भाग की अपेक्षा) पीछे से फोटो लेने वाले का फोटो ठीक है । 'स्यात्' (दाहिनी ओर की अपेक्षा) दाहिनी ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है । 'स्यात्' (बाईं ओर की अपेक्षा) बाईं ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है । इस तरह सबका संतोषजनक यथार्थ निर्णय 'स्यात्' लगाने से हो जाता है ।

जगत् के विभिन्न मत-मतान्तर अपने-अपने एक-एक दृष्टिकोण ही को सत्य मानकर दूसरों के दृष्टिकोण से प्रकट की गई मान्यता असत्य बतलाकर परस्पर विवाद करते हैं । उनका विवाद 'स्यात्' पद लगाकर दूर किया जा सकता है ।

अनेकान्तवाद और सप्तभंगी स्याद्वाद के रूपान्तर हैं । स्याद्वाद एक वास्तविक अकाट्य सिद्धान्त है; किन्तु यह दार्शनिक तर्क-विषय है, अतः कुछ कठिन है । अनेक व्यक्ति इसका स्वरूप ठीक न समझ सकने के कारण इसे गलत ठहराने का यत्न करते हैं । ऐसी त्रुटि साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् भी कर जाते हैं ।

□□

विद्वानों की सम्मतियाँ

हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस के दर्शन विषय (फिलासफी) के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक श्री फणिभूषणजी अधिकारी का कथन है—

"जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं, यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुष के लिये क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।"

श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य प. स्वामी राममिश्र जी शास्त्री प्रोफेसर संस्कृत कालेज, वाराणसी लिखते हैं—

"मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन-देख हँसी आती है, स्याद्वाद यह जैनधर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्व-ज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।"

इण्डिया ऑफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. थामस के उद्गार बड़े महत्वपूर्ण हैं; वे कहते हैं कि—

"न्यायशास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।"

भारतीय विद्वानों में विख्यात निष्पक्ष आलोचक एवं 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक स्व. पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

"प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी,

फ्रांस और इग्लैंड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की ओर भारत वर्ष के इतर जनों का का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनों के धर्म-ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रगट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबे रहते'।

महात्मा गाँधी जी लिखते हैं---

"मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं, कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोलकर उसका जो वर्णन किया था वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिये। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य, और अहिंसा—इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।"

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्व. डॉ. सम्पूर्णानन्दजी लिखते हैं---

"अनेकान्तवाद या सप्तभंगीन्याय जैन-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् भी सात में कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को वह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिए एक ही समय में है और नहीं है, दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है।"

श्री डॉ. एस. वी. नियोगी एम. ए., एल.एल.एम., एल.डी. भूतपूर्व चीफ जस्टिस नागपुर हाईकोर्ट तथा उपकुलपति नागपुर विश्वविद्यालय, लिखते हैं---

"जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Revelation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया, इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया। जिसके कारण मानव-इतिहास भयंकर द्वन्द्व और

रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय हैं।.....'स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है।....'सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्य कारी होंगे।—जैन शासन, पृ. २४-२५

संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् डॉ. गंगानाथजी झा ने लिखा है—

'जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा। और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।'

श्री प्रो. आनन्द शंकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं—

"महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरुप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है।"

वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ में पं. बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—

"उपनिषदों में किसी एक ही मत के प्रतिपादन की बात (एकान्त) ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त हेय है, उनकी समता तो उस ज्ञान के मानसरोवर (अनेकान्त) से है जहाँ से भिन्न-भिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक धाराएं निकलकर इस भारत-भूमि को आप्यायित करती आयी हैं। इस धारा (स्याद्वाद) को अग्रसर करने में ही जैन धर्म का महत्व है। इस धर्म का आचरण सदा प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। वर्धमान तीर्थंकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है।"

अनंतशयनम् अय्यंगार, (अध्यक्ष लोकसभा भू. पू.) लिखते हैं—

"भारत के महान संतों, जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान् महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है; क्योंकि जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष्य पद्धति) पर आधारित है, और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर

प्रतिष्ठापित है। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। क्योंकि जैन धर्म का भौतिक विज्ञान, और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है। जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ-विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान और काल, गति-स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीश चन्द्र वसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती सूत्र के वनस्पति कायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।"

□□

शंकराचार्य और स्याद्वाद

'आचार्य शंकर ने जैनों के स्याद्वाद को 'संशयवाद' तथा 'अनिश्चित-वाद' की संज्ञा दी है। उसका कारण यह है कि उन्होंने 'स्यादस्ति' का आशय 'शायद' के रूप में ग्रहण किया है; किन्तु आचार्य शंकर के इस मन्तव्य को जैन दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। वे वस्तु को अनेक धर्म (गुण) वाली कहते हैं और 'स्यादस्ति' के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए स्याद्वादी सिद्धान्त का समर्थक विद्वान् किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा होता है।

शंकराचार्य ने जो यह शंका व्यक्त की है कि एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य धर्म नहीं रह सकते; उसका उत्तर ऊपर के उदाहरण में दिया जा चुका है, अर्थात् जैसे एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्म अपेक्षा भेद से रहते हैं। उदाहरण के लिए, केन्द्र में बैठा हुआ व्यक्ति, उसके चारों ओर खड़े हुए व्यक्तियों की अपेक्षा भेद से भिन्न-भिन्न दिशाओं में बैठा हुआ सिद्ध होता है। उसी प्रकार पदार्थ के नित्यानित्य धर्मों में कोई विरोध नहीं आने पाता, छोटी और बड़ी वस्तुओं का छोटापन और बड़ापन अपेक्षा भेद से है।[1]

'इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।[2]

---

१. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ ११६,
२. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह 'दिनकर', पृष्ठ १३७

'सिद्धिरनेकान्तात्'–(शब्दार्णव चन्द्रिका, सोमदेव सूरि–१)

"सिद्धिः शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात् । अस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्व विशेषण विशेष्याद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्ट प्रमाणाविरुद्धादा-शास्त्र, परिसमाप्तेरित्ययेषोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति–सात्येतादिरिति'-अनेकान्ताधिकारे सत्येवाद्यन्त व्यपदेशो घटते अन्यथा तदभावात् किं केन सह गृह्येत् यतः सज्ञा स्यात् ।"

(अनेकान्त से सिद्धि होती है; अर्थात् शब्दोंकी निष्पत्ति अथवा ज्ञप्ति अनेकान्त से होती है। अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, विशेषण और विशेष्य आदि अनेकान्तात्मक हैं अतः इष्ट प्रमाण से अविरुद्ध दृष्टिगोचर होने से इस अनेकान्त का अधिकार इस (व्याकरण शास्त्र) की परिसमाप्ति पर्यन्त जानना चाहिये। जैसा कि आगे कहा जाएगा। 'सात्येतादि' (सूत्र) जिसका अर्थ है 'इत्संज्ञक के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपने सहित उन मध्यपतित वर्णाक्षरों का ग्राहक होता है' अर्थात् 'अण्' यह प्रत्याहार है। इसमें 'अ इ उ ण्' सूत्रान्तःस्थ वर्णों का ग्रहण है। प्रथमाक्षर अ और अन्त्य ण् के मध्यवर्ती 'इ-उ' का ग्रहण भी होता है। यह अनेकान्त अधिकार होने पर ही घटित हो सकता है अन्यथा उसके अभाव में किससे किसका ग्रहण किया जाए की संज्ञा का निर्माण हो।)

'सर्वान्तवत्तद्गुण मुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६२॥

—आचार्य समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन

(हे तीर्थंकर महावीर, आपका ही यह धर्मतीर्थ सर्वोदय सर्व अभ्युदयकारी है अन्य का नहीं; क्योंकि गौण-मुख्य आदि सर्व-धर्मात्मक हैं और जो परस्पर निरपेक्ष है वह सर्वधर्म-शून्य है, हे भगवन्! आपका यह तीर्थ समस्त आपत्तियों का अन्त करने वाला और स्वयं भी अन्त रहित है।'

अनेकान्त और स्याद्वाद

विश्व के प्राणियों में विचार-भिन्नता दृष्टिगत होती है। यह आश्चर्य का विषय नहीं; क्योंकि व्यक्तियों का चिन्तन स्वतन्त्र और वहुमुख होना स्वाभाविक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न चिन्तन को विरोध की दृष्टि से देखेगा तो उसका ज्ञान अपने चिन्तन मे ही सीमित रह जाएगा और वद्धमूल होने पर वह एकांगी विचार पारस्परिक द्वेष और असहिष्णुता को उत्पन्न करेगा। अतएव ज्ञान की समस्त उपासना चाहने वाले को अपने और विरोधी दोनों दृष्टिकोणों पर चिन्तन करना होगा। 'स्यात्' यह घट है,ऐसा अनेकान्त-विमर्श सत्य विन्दु को प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध हो। जैनधर्म में अनेकान्त-दर्शन इसी एक भिन्न 'स्यात्' की प्रतीति में सहायता पहुंचाने वाला तात्त्विक विमर्श-पथ है।

स्याद्वाद की व्युत्पत्ति

स्याद्वाद—'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से वना है। 'स्यात्' विविलिङ्ग में वना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है।* न तो यह 'शायद' न सम्भावना और न कदाचित् का प्रतिपादक है किन्तु 'सुनिश्चित दृष्टिकोण का वाचक है (ए पर्टीक्यूलर पाइण्ट ऑफ व्यू)।

यह अनेकान्त दृष्टि सम्यग्दर्शन है, समस्याओं के समाधान का रत्न-पुलिन है। इससे भिन्न विचारों पर आक्रोश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आक्रोश अथवा उत्तेजना अपने लघुत्व से उत्पन्न होती है। उसके स्थिर चित्त में इन विसंवादों से चलित भाव नहीं आता प्रत्युत अर्थ की सर्वांग-पूर्णता प्रतीत कर और अधिक दृढ़ स्थैर्य प्राप्त होता है—

'सापेक्षा हि नयाः सिद्धा दुर्नया अपि लोकतः।
स्याद्वादिनां व्यवहारात् कुक्कुटग्रामवासितम्॥'
—सिद्धिविनिश्चय १०।२७॥

—आप्तमीमांसा, १०३॥

* वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥

वस्तुत: सिद्धनय वे ही हैं जो अपेक्षा-जनित हैं। वैसे लोक व्यवहार से दुर्नयों का साधन भी किया जाता है; जैसे कुक्कुट का ग्राम में बोलना, यद्यपि कुक्कुट ग्राम के किसी एक प्रदेश विशेष में बोल रहा है तथापि उपचार से कह दिया गया कि कुक्कु ट गाँव में बोल रहा है। यह निर-पेक्षनय लोक व्यवहार से है, अथवा अन्य उदाहरण—'वृक्ष कपि-संयोगी' कपि किसी वृक्ष की एक शाखा पर बैठा है, पूरे वृक्ष से उसका संयोग नहीं है तथापि कपि वृक्ष पर बैठा है, ऐसा लोक-व्यवहार प्रक्लृप्त व्यवहार है, दुर्नय है—

समर्थ वचन

> 'समर्थवचनं जल्पं चतुरंगं विदुर्बुधाः।
> पक्ष निर्णय पर्यन्तं फलं मार्ग प्रभावना ॥'
>
> —सिद्धि विनिश्चय, (अकलंकदेव) २

स्व पक्ष साधन में समर्थवचन को चतुरंगवाद या जल्प कहते हैं। उसकी अवधि पक्ष निर्णय पर्यन्त है और फल मार्ग प्रभावना है।

चतुरंगवाद

वाद के चार अंग हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। यह विवाद चर्चा को एक प्रमुख विषय है। वाद का प्रयोजन 'तत्व ज्ञान की प्राप्ति अथवा प्राप्त तत्व ज्ञान की रक्षा' माना गया है। वादी प्रतिवादी आदि अंग चतुष्टय द्वारा निर्णीत होने से वाद को चतुरंग कहा है। इस चतुष्टय में कोई मतभेद नहीं है तथापि साध्य-साधन प्रणाली में मतभेद है, वाद का प्रयोजन निष्कर्ष की प्राप्ति है। यह वाद न्याय-परम्परा तथा जैन-परम्परा में द्विविध विभक्त है। न्याय परम्परा का वाद छल-प्रयोग द्वारा भी अपने प्रतिवादी को परास्त करने की इच्छा रखता है, परन्तु जैन-परम्परा तत्त्व-शोध-निर्णय को मुख्य मानती है अत: विजिगीषा रखते हुए भी न्यायरीति का अनुसरण करना उचित मानती है। वाद का अंतिम परिणाम जय-पराजय है। इस जय अथवा पराजय की स्थिति में भी अहिंसक दृष्टिकोण को ही जैनाचार्य अकलंक देव ने महत्त्व दिया है।

उपसंहार

पदार्थ-विचार तथा यथार्थ तात्विक निर्णय स्याद्वाद द्वारा ही होता है। एक ही दृष्टिकोण से विचार करना जहाँ पारस्परिक विवाद का मूल कारण रहता है, वहीं एक अधूरा एवं असत्य भी रहता है, ये त्रुटियाँ स्याद्वाद से दूर हो जाती हैं।

अतः बुद्धि-विकास, यथार्थ निर्णय, पारस्परिक विवाद-निवारण के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त परम उपयोगी है। अनेकान्तवाद, सप्त-भङ्गीवाद, 'स्याद्वाद' के ही नामान्तर हैं।

'नय अनन्त इह विधि कहीं, मिलै न काहू कोई।
जो सब नै साधन करे, स्याद्वाद है सोई॥'–

—नाटक समयसार, बनारसीदास ॥७॥

नय* अनेक हैं, कोई किसी से नहीं मिलते, परस्पर विरुद्ध हैं और जो सब नयों को साधता है, वह 'स्याद्वाद' है।

□□

*ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को 'नय' कहते हैं